गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 52, अंक 3, मई-जून 2010

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1.	काठ की बंदूकें	प्यारेलाल	3
2.	सौ टका काट है हिन्द स्वराज	संदीप जोशी	13
3.	हम कावेरी के बेटे-बेटी	महादेवन रामस्वामि	23
4.	हिंसा की जड़ें और उसकी शाखाएं	धीरुभाई मेहता	30
8.	**पुराना चावलः**		
	रामजी इस मस्जिद की रक्षा करें	स्वामी वाहिद काजमी	34
9.	**पोथी पढ़ि पढ़िः**		
	कुएं में भांग	सुधांशु भूषण	42
10.	**टिप्पणियां**		51
11.	**पत्र**		58

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपये, दो वर्ष का 190 रुपये, आजीवन-500 रुपये (व्यक्तिगत), 1000 रुपये (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपये, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

प्रकाशक : अनुपम मिश्र, गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110 002, फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810, गली माता वाली, दिल्ली-06, फोन नं. 011-23264968

काठ की बंदूकें

प्यारेलाल

भूमिगत आंदोलन, हिंसा, तोड़-फोड़, एक दूसरे पर हमले– जो आज रहा है, वह सब पहले भी हुआ था, आजादी की लड़ाई के दौरान। तब भी यह बहुत बड़ी बहस थी कि सरकारी हिंसा रोकने के लिए रेल की पटरियां वगैरह उखाड़ना हिंसा नहीं मानी जा सकती। तब गांधीजी ने खुले और सचाई भरे साधन की बात रखते हुए कहा था कि कोई भी गुप्त संगठन, चाहे वह कितना भी बड़ा होता, वैसी चमत्कार भरी जागृति पैदा नहीं कर सकता था, जो अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन के छिड़ने के बाद देश के करोड़ों निरक्षर और दरिद्रता-पीड़ित लोगों में पैदा हुई थी। एक भिन्न प्रसंग में गांधीजी ने किसी अंग्रेज राजनीतिज्ञ की उस बात से सहमति जताई थी कि 'काठ की बंदूकों' से राष्ट्रीय संग्राम नहीं जीते जा सकते।

स्वतंत्रता का मार्ग कठिन और लंबा दिखाई देता था। अभी कठिन यात्रा देश के सामने थी। महात्माजी ने अहिंसा के अपने शस्त्रागार को पुनः सुव्यवस्थित करने का काम आरंभ कर दिया।

'भारत छोड़ो' संग्राम के दिनों में बहुत से कांग्रेसी अपने मूल आधार से विचलित हो गए थे। अगस्त के प्रस्ताव ने हर कार्यकर्ता पर 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव का अपने ही निर्णय के अनुसार अमल करने का भार रख दिया था। अलबत्ता, उन्हें सत्य और अहिंसा की मर्यादा के भीतर ही रहकर सब कुछ करना था। लेकिन नेताओं को एक ही धावे में गिरफ्तार कर लिए जाने के कारण अलग-अलग लोगों ने अहिंसा का अलग-अलग अर्थ लगाया। कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद तत्काल ही भारत मंत्री श्री एमेरी ने जो रेडियो भाषण दिया था, उसके कारण किशोरलाल मशरूवाला जैसे अहिंसा के कट्टर पुजारी भी– जो महात्माजी की ही भाषा काम में लें तो अहिंसा के अपने आग्रह को इतनी दूर तक ले जाते थे कि साथियों को हैरानी होती थी– बहक गए थे। इस रेडियो-भाषण

में श्री एमेरी ने 'तोड़-फोड़' के अनेक प्रकार गिनाए थे, जो उनके ख्याल से कांग्रेस के कार्यक्रम में 'शामिल' थे।

तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति में लगे हुए लोगों की तरफ से यह दावा किया गया था कि उन्होंने अपने कार्यक्रमों पर अमल करते समय हृदय से इस बात का प्रयत्न किया था कि किसी को भी व्यक्तिगत चोट न पहुंचे। परंतु सर्वत्र गुप्तता का साम्राज्य था। अधिकतर खुले विरोध के कार्यक्रम की तैयारी संगठन वाले भाग तक ही सीमित थी। ब्रिटिश अदालतों में सफाई देने का और सजा से बचने की बात का निषेध किया गया था। अखिल भारतीय सत्याग्रह परिषद स्थापित हो चुकी थी और वैसा ही संगठन प्रान्तों में भी खड़ा कर लिया था। जैसे-जैसे सरकारी दमन व्यापक और उग्र बनता गया, वैसे-वैसे अधिकाधिक कार्यकर्ता भूमिगत होने लगे। कुछ के खिलाफ हिंसा के गंभीर अभियोग लगाए गए थे; और कुछ लोगों के मामले में तो गिरफ्तारी के लिए इनाम तक घोषित हो चुके थे।

गांधीजी ने उन्हें बहुत साफ सलाह दी। "जिस हद तक हमारे ध्येय में गुप्तता होगी, उस हद तक उसे हानि ही पहुंचेगी। हमें एक दो आदमियों की दृष्टि से नहीं सोचना है, हमें करोड़ों लोगों की दृष्टि से विचार करना है। आज वे निर्जीव जैसे हो गए हैं। गुप्त उपायों का आश्रय लेकर हम उनमें फिर से प्राण नहीं पूर सकते। सत्य और अहिंसा पर डटे रहकर ही हम उनकी तेजहीन आंखों में फिर से तेज उत्पन्न कर सकते हैं।"

इनमें से कुछ मित्र गांधीजी की रिहाई के बाद तुरंत ही उनसे मिलना चाहते थे। गांधीजी ने कहला भेजा कि वे अपनी जिम्मेदारी पर आ सकते हैं। उनमें से कुछ आए और पहले जुहू में और बाद में पंचगनी में गांधीजी से मिले। इनमें श्री रंगनाथ दिवाकर– जो बाद में केन्द्रीय मंत्री हुए और फिर बिहार के राज्यपाल बने, बंगाल के बहुत बड़े रचनात्मक कार्यकर्ता अन्नदा चौधरी, समाजवादी नेता अच्युत पटवर्धन और कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य तथा बाद में अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की ओर से अमेरिका में नियुक्त भारतीय राजदूत श्री आसफ अली की पत्नी अरुणा आसफ अली आदि कई लोग थे। इस निर्भीक महिला अरुणा ने अपनी हिम्मत और सूझबूझ से अनेक सरकारी कर्मचारियों से प्रशंसा और कुछ पुलिस अफसरों तक से गुप्त समर्थन प्राप्त कर लिया था। एक अंग्रेज, जो सरकारी अधिकारी भी थे, संयोग से एक मित्र के घर अरुणा से मिले। अरुणा के साहसी कामों की कहानी सुनकर उन्होंने पुलिस को सूचना देने के बजाय उनके साहस की प्रशंसा की और कहा कि ऐसी परिस्थितियों में मैं भी यही करता। अरुणा आसफ अली की गिरफ्तारी के लिए

भी सरकार ने एक बड़े इनाम की घोषणा की थी।

गांधीजी ने उन्हें बहुत साफ सलाह दी। उनका यह दृढ़मत था कि सब तरह की गुप्तता पाप हैः "जिस हद तक हमारे ध्येय में गुप्तता होगी, उस हद तक उसे हानि ही पहुंचेगी। हमें एक दो आदमियों की दृष्टि से नहीं सोचना है, हमें करोड़ों लोगों की दृष्टि से विचार करना है। आज वे निर्जीव जैसे हो गए हैं। गुप्त उपायों का आश्रय लेकर हम उनमें फिर से प्राण नहीं पूर सकते। सत्य और अहिंसा पर डटे रहकर ही हम उनकी तेजहीन आंखों में फिर से तेज उत्पन्न कर सकते हैं।"

गांधीजी ने उनसे कहा कि अपने आसपास की परिस्थितियों को देखते हुए आपको ऐसा लगा होगा कि आप लोगों में से कुछ भूमिगत न हो जाते तो आंदोलन को हानि पहुंचती। परंतु यह निरा भ्रम है। "जब आप बड़े प्रश्नों पर विचार करेंगे तो आपको पता लगेगा कि सब तरह की गुप्तता छोड़कर खुले रूप में काम करने से ही आप आगे बढ़ सकते हैं।"

इसलिए जो लोग भूमिगत हो गए थे, उन सबको गांधीजी ने यह सलाह दी कि वे बाहर आ जाएंः "यदि आपका भी मेरी तरह दृढ़ विश्वास हो कि छिप कर काम करने से अहिंसा की सक्रिय भावना के विकास में मदद नहीं मिलती, तो आप बाहर आकर जेल जाने का खतरा उठा लेंगे और यह विश्वास रखेंगे कि इस तरह भोगी हुई जेल स्वयं ही स्वतंत्रता के आंदोलन में सहायक होती है।" इसी तरह आप अजेय शक्ति का निर्माण कर सकेंगे। "आज अगर आप केवल दो होंगे तो बाहर आने पर कल 20 हो जाएंगे और इस तरह आपका स्वतंत्रता-संग्राम दिन प्रतिदिन अधिक गति पकड़ता जाएगा।

उनमें ऐसे एक के नाम लिखे पत्र में गांधीजी ने लिखाः "मेरी राय में गुप्तता पाप है और हिंसा की निशानी है। इसलिए यदि हमारा लक्ष्य करोड़ों मूक लोगों की स्वतंत्रता हो, तो हमें निश्चित रूप में उससे सर्वथा बचना चाहिए। इसलिए मेरी राय में सब तरह की गुप्त प्रवृत्ति निषिद्ध है।"

उनमें से भी कुछ लोगों को अपने गुप्त कामों के अनुभवों के कारण इसी नतीजे पर पहुंचना पड़ा था। सरकार जिन्हें पकड़ना चाहती थी, ऐसे कुछ व्यक्ति तो आजादी से इधर-उधर फिरते रहते थे; दूसरे कुछ भागकर छिप गए थे। कुछ ने अपने नाम बदल लिए थे। और कुछ अपनी सदा की पोशाक छोड़ भेष बदलकर घूमते थे। एक गुप्त कार्यकर्ता ने बतायाः "हमारी गिनती कम होती गई। हमारे काम करते रहने की एक सीमा थी और वह सीमा एक तरह से आ गई थी।"

गांधीजी कोई आदेश निकालना नहीं चाहते थे। जिन्होंने 'आज्ञा' मांगी उनसे उन्होंने कहाः "मुझे अभी कैदी ही मानना चाहिए, जिसे राय देने की

स्वतंत्रता है, पर आदेश जारी करने की नहीं। परंतु मैं इतना कह सकता हूं कि यदि आप एक ओर सत्य को और दूसरी ओर अहिंसा को रखकर चलें तो आप रास्ते से भटक नहीं सकते । यह सुनहला रास्ता है। इस पर आप चलेंगे तो ईश्वर आपको सहारा देगा। आपको कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जो आपके हृदय को न जंचे। यदि मेरी सलाह आपके हृदय को न जंचे, तो जो आपकी अंतरात्मा कहे वही आपको करना चाहिए। जब हृदय और बुद्धि में संघर्ष होता है, तो हृदय की जीत होती है।

श्रीमती अरुणा आसफ अली को सख्त पेचिश हो गई थी। गुप्त जीवन की कठिनाइयों से वह अधिक तीव्र हो गई थी। गांधीजी ने उन्हें लिखाः "तुम्हारे साहस और शौर्य की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं। मैंने तुम्हें संदेश भेजे हैं कि तुम्हें गुप्त वास में रहकर नहीं मरना चाहिए। तुम सूखकर कांटा हो गई हो। बाहर निकल आओ, आत्म-समर्पण कर दो और तुम्हारी गिरफ्तारी का पुरस्कार खुद ही ले लो। उस पुरस्कार का रुपया हरिजन-कार्य के लिए सुरक्षित रख दो।"

तो क्या तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति ने स्वाधीनता-संग्राम को हानि पहुंचाई थी? क्या उस लड़ाई के दौरान लोगों ने जो हिम्मत और बहादुरी दिखाई थी, वह सब बेकार गई? गांधीजी का निर्णय यह था कि इतिहास की दृष्टि से देश हर प्रकार के संग्राम द्वारा आजादी की दिशा में आगे बढ़ा हुआ मालूम होगा और यह बात उनके संग्राम पर भी लागू होती है। परंतु सभी लोग अहिंसक रहते, तो यह प्रगति कहीं अधिक होती।

एक सार्वजनिक वक्तव्य में गांधीजी ने कहाः

"मुझसे कहा गया है कि कुछ कार्यकर्ता यदि भूमिगत न चले जाते, तो हम कुछ न कर पाते। ...दूसरे राष्ट्रों के उदाहरण देकर बताया गया कि उन राष्ट्रों ने ये सारी बातें की हैं और उनसे भी बुरी बातें करने में संकोच नहीं किया है। मेरा उत्तर यह है कि जहां तक मैं जानता हूं, किसी राष्ट्र ने समझ-बूझकर सत्य और अहिंसा का आजादी प्राप्त करने के एकमात्र उपाय की तरह उपयोग नहीं किया है। इस दृष्टि से सोचें तो गुप्त प्रवृत्तियों को, वे बिलकुल निर्दोष हों तो भी, अहिंसा की रीत में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। ... यद्यपि यह सिद्ध किया जा सकता है कि इन प्रवृत्तियों ने कुछ लोगों की कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करके उनमें उत्साह जाग्रत किया, ...फिर भी कुल मिलाकर उनसे हमारे आंदोलन को हानि ही पहुंची है।"

गुप्त कार्यकर्ताओं ने यह दलील दी कि "कोई आदमी अपने कर्म का फल भुगतने को साहस के साथ तैयार हो, तो उसे गुप्तता का दोषी नहीं कहा जा सकता।" परंतु गुप्तता के खिलाफ गांधीजी की आपत्ति बुनियादी थी। गुप्तता

का सारा मनोविज्ञान और उसकी कार्य-प्रणाली सर्वथा भिन्न है। जो व्यक्ति गुप्त आचरण करता है, उसके चारों ओर 'रक्षा की दीवार' खड़ी करना गुप्तता का लक्ष्य होता है। अहिंसा ऐसी रक्षा का तिरस्कार करती है। वह भारी से भारी कठिनाइयों के सामने भी खुले रूप में काम करती है। 40 करोड़ लोगों को खुले और सचाई भरे साधनों के सिवा अन्य किसी तरह काम करने के लिए संगठित नहीं किया जा सकता। कोई भी गुप्त संगठन, चाहे वह कितना ही बड़ा होता, वैसी चमत्कारपूर्ण जागृति पैदा नहीं कर सकता था, जो अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन के छिड़ने के बाद देश के करोड़ों निरक्षर और दरिद्रता-पीड़ित लोगों में पैदा हुई थी।

'भारत छोड़ो' संग्राम के दिनों में दो नई विचारधाराएं सामने आई थीं। उनमें से एक के प्रतिनिधि बड़ी संख्या के समाजवादी थे, जो खुले तौर पर कहते थे कि कार्यक्रम के रूप में अहिंसा का काम अब पूरा हो गया है। उसका काम 'सर्व-साधारण को जगाना' था। वह उसने कर दिया। आजादी की 'अंतिम लड़ाई' में, जिसका आरंभिक दौर अहिंसा का था, शस्त्रों के उपयोग के संपूर्ण निषेध का आग्रह नहीं रखा जा सकता। दूसरी विचारधारा वाले अहिंसा के सिद्धांत में तो विश्वास रखने का दावा करते थे, परंतु उनका कहना था कि उस में 'संशोधन' और 'विकास' की गुंजाइश है। वे इसे 'नव-सत्याग्रह' या 'नव-गांधीवाद' कहते थे। इस संशोधित कार्य प्रणाली में व्यापक रूप में तोड़-फोड़, गुप्त प्रवृत्ति और 'समानांतर सरकार' का संगठन करने की कोशिश भी थी।

"मुझे अभी कैदी ही मानना चाहिए, जिसे राय देने की स्वतंत्रता है, पर आदेश जारी करने की नहीं। परंतु मैं इतना कह सकता हूं कि यदि आप एक ओर सत्य को और दूसरी ओर अहिंसा को रखकर चलें तो आप रास्ते से भटक नहीं सकते । यह सुनहला रास्ता है। इस पर आप चलेंगे तो ईश्वर आपको सहारा देगा। आपको कोई ऐसी बात नहीं करनी चाहिए, जो आपके हृदय को न जंचे।"

'भारत छोड़ो' संग्राम के दिनों में देश के कई भागों में– उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में, बंगाल के मिदनापुर जिले में, बंबई के सतारा जिले में और बिहार के एक बड़े हिस्से में ब्रिटिश शासन का अंत कर दिया गया था और उसके स्थान पर समानांतर प्रशासन स्थापित कर दिया गया था, जिसे मिदनापुर में 'जातीय सरकार' तथा सतारा में 'पत्री सरकार' कहा जाता था। उसने शिक्षा का और जन-कल्याण का काम संगठित किया, पंचायतें कायम कीं, झगड़े निबटाए, 'अपराधियों' और 'गद्दारों' को सजाएं तक दीं– कभी-कभी कठोर और तात्कालिक

न्याय द्वारा, जुर्माने वसूल किए, कर लगाए– यह काम सदा समझा-बुझाकर नहीं किया गया। ब्रिटिश पुलिस के हथियार छीन लिए, स्थानीय अफसरों और सरकारी नौकरों की 'गिरफ्तारी' के हुक्म दिए और कुछ निश्चित और अनिश्चित काम पूरे करने के लिए 'अहिंसक' दल संगठित किए।

इन कार्यों लगे हुए लोग पूछते थे कि क्या सरकारी संपत्ति अर्थात् रेलों, इमारतों, पुलों, तारों वगैरा को नष्ट करना हिंसा है। 'यह तो राष्ट्र की संपत्ति है; अपनी संपत्ति का हम जो चाहें सो कर सकते हैं। कभी सरकारी हिंसा को रोकने के लिए इस संपत्ति का नाश जरूरी हो भी सकता है।'

गांधीजी को यह दलील स्वीकार नहीं थी। "राष्ट्रीय सरकार होने पर भी किसी व्यक्ति को राष्ट्र की संपत्ति नष्ट करने का इसलिए अधिकार नहीं मिल जाता कि वह सरकार के आचरण से असंतुष्ट है। साथ ही, बुराई मकानों में, तार-टेलीफोन में या सड़कों में नहीं रहती, परंतु उन व्यक्तियों में रहती है जो उनका दुरुपयोग करते हैं। इन सब चीजों को नष्ट करके आप बुराई को तो अछूता ही छोड़ देते हैं। बुराई को बेकार बनाने के लिए विनाश की नहीं, परंतु विशुद्ध से विशुद्ध आत्मोत्सर्ग की जरूरत होती है, जो यह सिद्ध करके दिखा दे कि जिस संकल्प ने सब कुछ सत्यरूपी ईश्वर को अर्पण कर दिया है, उसे अधिकारी झुका शायद सकें, परंतु तोड़ नहीं सकेंगे।"

जो व्यक्ति गुप्त आचरण करता है, उसके चारों ओर 'रक्षा की दीवार' खड़ी करना गुप्तता का लक्ष्य होता है। अहिंसा ऐसी रक्षा का तिरस्कार करती है। वह भारी से भारी कठिनाइयों के सामने भी खुले रूप में काम करती है। 40 करोड़ लोगों को खुले और सचाई भरे साधनों के सिवा अन्य किसी तरह काम करने के लिए संगठित नहीं किया जा सकता।

गांधीजी को जवाब मिलाः "हम इस बात से सहमत हैं कि पुलों वगैरा को नष्ट करने से बुराई का बाल भी बांका नहीं होता, बल्कि बदले के रूप में उससे भी बड़ी बुराई को उत्तेजना मिलती है। हम यह भी मानते हैं कि बुराई हमारे ही भीतर है; उसके बिना बाहर की बुराई आगे बढ़ नहीं सकती। परंतु रणनीति की दृष्टि से आंदोलन की सफलता के लिए और पराजय की भावना को रोकने के लिए गुप्तता का आश्रय लेना जरूरी हो सकता है।"

गांधीजी के लिए ये सब बातें जानी-बूझी थीं। उन्होंने इससे पहले भी आतंकवाद के बचाव के रूप में यह दलील अकसर सुनी थी। गांधीजी ने उन्हें समझाया कि आपका यह नया कार्यक्रम उस पुराने से किसी भी तरह भिन्न नहीं

है। लोगों ने तो शारीरिक हिंसा की व्यर्थता को अनुभव कर लिया है, परंतु कुछ लोग समझते हैं कि तोड़-फोड़ के संशोधित रूप में वे उसका प्रयोग कर सकते हैं। उसमें न तो अहिंसा का गुण है और न वह पूरे सशस्त्र संघर्ष की ही जगह ले सकती है। आप सत्ता के इन प्रतीकों से थोड़ी देर तक चिपटे रह सकते हैं; इससे आपकी कल्पना-शक्ति को संतोष हो सकता है। परंतु ये बच्चों के खिलौनों से अधिक कुछ नहीं हैं। "हमें ऐसी सत्ता का सामना करना है, जिसे हार न स्वीकार करने का घमंड है। अंग्रेजी राज्य के आरंभ में प्रचण्ड विद्रोह हुए थे। कई स्थानों पर अंग्रेज सचमुच हारे भी थे। परंतु अंत में उनकी जीत हुई।" एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ कहा करते थेः "काठ की बंदूक में मेरा विश्वास नहीं।" गांधीजी इस बात में उनसे सहमत थे। राष्ट्रीय संग्राम 'काठ की बंदूकों' से नहीं जीते जा सकते।

गांधीजी से पूछा गयाः "आपने 'भारत छोड़ो' आंदोलन को अहिंसक विद्रोह बताया था। क्या अहिंसक विद्रोह सत्ता छीनने का कार्यक्रम नहीं है?

गांधीजी ने उत्तर दिया, "नहीं, अहिंसक विद्रोह सत्ता छीनने का कार्यक्रम नहीं है। वह तो संबंधों में कायापलट करने वाला कार्यक्रम है, जिसका परिणाम सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तांतरण होता है।"

उन्होंने समझाया, यदि जनता का अहिंसात्मक सहयोग इतना पूर्ण हो कि सरकारी तंत्र ठप हो जाए या मान लीजिए कि विदेशी आक्रमण की टक्कर से संगठित सरकार के टूट जाने पर सत्ता की शून्यता उत्पन्न हो जाए, तो स्वाभाविक रूप में जनता का संगठन बीच में आकर सत्ता अपने हाथ में ले लेगा। परंतु इससे पहले जनता के सब वर्गों में इतना मेल, उद्देश्य की एकता और एकरसता हो जानी चाहिए और समाज-विरोधी तत्त्वों पर इतना नियंत्रण स्थापित हो जाना चाहिए कि जनता की सरकार अहिंसा के सिवा और किसी बल का सहारा लिए बिना अपनी आज्ञाओं का पालन करा सके। "वह सरकार कभी दमन का प्रयोग नहीं करेगी। उसके राज्य में विरोधी विचार रखने वालों की भी पूरी रक्षा की जाएगी।"

परंतु जिन्होंने गुप्त प्रवृत्ति का रोमांच अनुभव कर लिया था, वे अपने विचार इतनी आसानी से छोड़ने वाले नहीं थे। उन्होंने दलील कीः "हम स्वीकार करते हैं कि तोड़-फोड़ और गुप्तता हिंसा है। परंतु हमने देखा है कि जिसने हमारी गुप्त प्रवृत्ति की शिक्षा पाई है, वह उस आदमी की अपेक्षा सच्ची अहिंसा के अधिक निकट आ जाता है, जिसे ऐसा कोई अनुभव नहीं हुआ हो।"

इसके लिए गांधीजी के पास उत्तर तैयार ही था। उन्होंने कहा, "आपने जो बात कही वह इसी अर्थ में सही है कि हिंसा का बार-बार उपयोग करके ऐसा आदमी शायद उसकी व्यर्थता अनुभव कर लेता है। मैं आपसे एक प्रतिप्रश्न पूछता

हूं: क्या आप यह भी कहेंगे कि जिसने पाप का स्वाद चख लिया है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा, जिसने यह स्वाद नहीं चखा है, सदाचार के अधिक निकट है?

तोड़-फोड़ और गुप्तता आदि के कार्यक्रम के बारे में गांधीजी के विचार प्रकाशित होने पर कांग्रेसियों के एक वर्ग ने अप्रसन्नता प्रकट की। एक बहन ने गांधीजी से कहाः "आपने कहीं ऐसा कहा था कि आपकी गिरफ्तारी के बाद हमें स्वयं अपना नेता बनना होगा। कार्यसमिति की अनुपस्थिति में प्रत्येक पुरुष या स्त्री को अपने लिए स्वतंत्र रूप से सोचना था। हमने अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया था। आपके हाल के उद्‌गारों से हमको लगता है कि हमारे साथ न्याय नहीं किया जा रहा है।"

"हमें ऐसी सत्ता का सामना करना है, जिसे हार न स्वीकार करने का घमंड है। अंग्रेजी राज्य के आरंभ में प्रचण्ड विद्रोह हुए थे। कई स्थानों पर अंग्रेज सचमुच हारे भी थे। परंतु अंत में उनकी जीत हुई। एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ कहा करते थेः "काठ की बंदूक में मेरा विश्वास नहीं।" गांधीजी इस बात में उनसे सहमत थे। राष्ट्रीय संग्राम 'काठ की बंदूकों' से नहीं जीते जा सकते।

गांधीजी ने उत्तर दियाः " मैंने किसी को दोष नहीं दिया। लेकिन जब कोई बात गलत हो तो मुझे कहना ही चाहिए।"

"क्या इससे हमारे काम को हानि नहीं पहुंचेगी?"

"नहीं, अपनी भूलों से हम सीखते हैं। उन्हें सुधार कर हम आगे बढ़ते हैं।"

"कुछ लोग कहते हैं कि यदि अहिंसा का आप ऐसा संकीर्ण अर्थ करते हैं, तो हमें ऐसी अहिंसा नहीं चाहिए। आप इसे हिंसा कहिए या और कुछ नाम दीजिए, तोड़-फोड़ और दूसरी विध्वंसक प्रवृत्तियों के बिना हम सरकार को उखाड़ नहीं सकते।"

"ऐसा प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, चाहे कुछ समय के लिए वह सफल होता दिखाई दे या सचमुच सफल भी हो जाए। परंतु मैंने कहा है कि जो लोग मेरे तरीके में विश्वास नहीं रखते, वे खुले तौर पर ऐसा कह सकते हैं और हिम्मत के साथ अपने ही उपायों को आजमा कर देख सकते हैं।"

"हम स्वीकार करते हैं कि लोकमत आपके विचार का बन गया है। ज्ञानपूर्वक या भय के कारण जनता यह अनुभव करने लगी है कि तोड़-फोड़ से काम नहीं बनेगा। लेकिन आप प्रत्येक मनुष्य से पूर्ण होने की आशा नहीं रख सके, जबकि आपके तरीके का गूढ़ार्थ यही है।"

"मैं आपके मत से सहमत हूं। इसीलिए तो मैंने अपूर्ण मनुष्यों के साथ स्वातंत्र्य-संग्राम आरंभ किया। लेकिन लोगों में आवश्यक अहिंसा का विकास हो

या न हो, मैं अपने सिद्धांतों के साथ समझौता नहीं कर सकता।"

"हमारे लक्ष्य तक शीघ्रातिशीघ्र पहुंचने का रास्ता कौन-सा है।?"

"जो सबसे सीधा मार्ग है, भले ही वह लंबा दिखाई दे।"

"तब आप निकट भविष्य में स्वाधीनता मिलने की आशा नहीं करते?"

"मैं तो उसके निकटतम भविष्य में मिलने की आशा करता हूं, यदि मेरा रास्ता अपनाया जाए।"

कार्यकर्त्री बहन अपनी बात पर डटी रहीं: "तो आप यह चाहते हैं कि हम क्रुद्ध भी हों और चुप भी बैठे रहें?"

"नहीं, मैं तो चाहता हूं कि आप अपने आप पर अत्यंत क्रुद्ध हों। सांप पर क्रोध करने से कोई लाभ नहीं होता। सांप तो काटेगा ही। मेरी पद्धति आपको पसंद न आती हो, तो जो पद्धति पसंद आए उस पर चलिए। लेकिन चुपचाप मत बैठिए।"

"हममें इतना साहस नहीं है। आपका विरोध करके हम आगे नहीं बढ़ सकते।"

"आपको यह साहस अपने में पैदा करना चाहिए।...अकेले खड़े होने के इस साहस के कारण ही मेरे लिए यह माना जाता है कि मैं भारत की आजादी की भावना का प्रतिनिधि हूं। स्वराज्य कमजोरों के लिए नहीं होता।"

औंध के राजकुमार अप्पा साहब पंत गुप्त कार्यकर्ताओं को सलाह और मार्गदर्शन दे रहे थे। उन्होंने अपनी दुविधा गांधीजी के सामने रखी: "मेरे लिए सत्य और अहिंसा नीति नहीं, परंतु धर्म है। मैं ऐसे गुप्त कार्यकर्ताओं को जानता हूं, जो मक्खी को भी जान-बूझकर चोट पहुंचाना नहीं चाहते। उनके रोम-रोम में देश प्रेम समाया हुआ है। जब वे मेरे पास आते हैं और मेरी सलाह मांगते हैं, तो मुझे उन्हें आश्रय देना ही पड़ता है। मैं उन्हें गुप्त उपायों से विमुख करना चाहता हूं। लेकिन ऐसा करते हुए खुद मुझे ही गुप्तता का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए मैं चक्कर में पड़ा हुआ हूं और बड़ा परेशान हूं।"

गांधीजी ने उत्तर दिया: "आपके इस रुख के खिलाफ कोई आक्षेप नहीं हो सकता। आप दौड़ती हुई गाड़ी से बाहर नहीं कूद सकते। किसी बाहर के व्यक्ति से आपको सफल पथ प्रदर्शन नहीं मिल सकता। वह तो भीतर से ही मिलना चाहिए। यदि आप अपने ही भीतर गहरे पैठ कर प्रार्थनापूर्वक इसका उत्तर ढूंढ़ेंगे, तो एक स्थिति ऐसी आएगी जब अचानक आपकी आंखे खुलेंगी और आपको सत्य और गुप्तता से इतनी घृणा होगी कि गुप्त कार्यकर्ताओं के पास जाकर आप उनसे कहेंगे कि यदि वे अपने ही रास्ते पर चलना चाहते हों, तो आप उनके मार्गदर्शक का काम नहीं कर सकते। तब वे आपका मुंह देखकर ही यह बात

समझ जाएंगे और बहुत संभव है कि उनके जीवन में भी इससे एक नया अध्याय आरंभ हो जाए।"

इन सारी चर्चाओं का नतीजा यह निकला कि अधिकांश कांग्रेसी, जो देश के विभिन्न भागों में गुप्त प्रवृत्तियां चला रहे थे, सामने आ गए। कुछ लोगों ने अधिकारियों के सामने अपने को पेश कर दिया और कुछ खुले रूप में सविनय आज्ञा भंग करके जेल चले गए।

पुलिस एक गुप्त कार्यकर्ता की तलाश कर रही थी। ये कार्यकर्ता गांधीजी के आगे आत्म-समर्पण करने के लिए सेवाग्राम आश्रम आ गए। पुलिस को इसका पता चल गया। पुलिस सब-इंस्पेक्टर मेरे पास आया और उसने वह चिट्ठी मांगी, जो गुप्त कार्यकर्ता ने गांधीजी को दी थी। गांधीजी ने जवाब में यह लिख दियाः "ये भाई मेरे पास आए और बोले, मुझे आप पर और आपके उपदेशों पर विश्वास है, और मैंने आत्म-समर्पण करने का निर्णय कर लिया है।" इसलिए उन्होंने यह चिट्ठी लिखी है। मैं यह भी कह दूं कि वे मेरे सामने अपना अपराध स्वीकार कर लेते, तो भी पुलिस को उसे न बताना मेरा कर्तव्य होता। मैं एक ही साथ सुधारक और सूचना देने वाला नहीं हो सकता।"

अच्युत पटवर्धन और अरुणा आसफ अली ब्रिटिश अधिकारियों के आगे आत्म-समर्पण करने को तैयार नहीं हो सके। परंतु एक वफादार और अनुशासनबद्ध सैनिक की तरह गांधीजी के 'निर्णय' का आदर करके अच्युत ने गुप्त कार्रवाइयों से हट जाने का निश्चय कर लिया। अरुणा ने आखिर तक अपनी गुप्त प्रवृत्तियां जारी रखना पसंद किया।

गांधीजी की स्थिति विषम हो गई थी। नियमानुसार वे सेनापति नहीं थे और कोई आदेश निकालने की उनकी इच्छा नहीं थी। परंतु कार्यकर्ता उनसे कहते थे कि हम अपनी ही बुद्धि से काम लेना नहीं चाहते; हमें आप रास्ता बताइए। गांधीजी सैन्यरहित सेनापति थे, इसलिए आज्ञा दिए बिना उन्हें मार्गदर्शन देना था और अपनी श्रद्धा के– जो कि बुद्धि की पहुंच के परे है– गूढ़ार्थ बुद्धि की भाषा में समझाने पड़ते थे और उन लोगों को समझाने पड़ते थे, जिनका अपनी ही बुद्धि पर भरोसा नहीं था। उन्होंने कहा, "मैं नहीं चाहता कि हमारे लोग अपनी बुद्धि को ताला लगा लें। बुद्धिमान माता-पिता अपने बच्चों को भूल करने देते हैं। कभी-कभी भूलों के कारण उन्हें कष्ट उठाना पड़े, तो इससे उन्हें लाभ ही होता है।"

महात्मा गांधीः पूर्णाहूति, खंड एक के तीसरे
अध्याय 'राष्ट्र की आवाज' के संपादित अंश

*

सौ टका काट है हिन्द स्वराज

संदीप जोशी

पूरे एक सौ बरस सचमुच एक लंबा समय होता है। बीता साल महात्मा गांधी की किताब 'हिन्द स्वराज' लिखे जाने का शताब्दी वर्ष था। जिज्ञासा ने महात्मा गांधी को यह छोटी लेकिन आधार-भूत किताब लिखने को मजबूर किया। पिछले वर्ष इस किताब पर इतना कुछ छपा है कि आज बहुत सी बातें दुहराने की जरूरत नहीं है। गांधीजी ने इसे बस दस दिनों में वहीं जहाज से उठाए गए कागजों पर लिख डाला था। यह भी अब बताना जरूरी नहीं कि उस दौर में इस किताब को दकियानूस ही बताया गया था।

तो इस तरह इस किताब के सौ बरस में से पहले 38 साल अंग्रेजों से आजादी की लड़ाई में निकल गए और बचे 62 साल भारतीय राज में बीते हैं। गांधीजी का यह काम 'हिन्द स्वराज' बीसवीं शताब्दी की भारतीय सभ्यता, राजनैतिक परिप्रेक्ष व सामाजिक सरोकारों से वास्ता रखता है। क्या 'हिंद स्वराज' में उठाए गए अहम मुद्दे आज प्रासंगिक हैं और क्यों उन सवालों पर हम जैसे नए जवान लोग फिर से विचार नहीं कर सकते? आज के हालात अगर हम सौ साल पहले लिखी गई किताब के समय के आधार पर देखें, तो क्या हमने विकास किया? इसलिए गांधीजी द्वारा लिखी और अनुवाद की गई इस एकमात्र किताब के विषय व मुद्दों को हमें नए सिरे से देखने व समझने की कोशिश करनी चाहिए, भले ही इसके सौ बरस के आयोजन अब बंद हो चुके हैं। विवादों की कठोर जिल्द से बंधी इस कोमल किताब में दो, चार, आठ, दस पन्नों के छोटे-छोटे 20 अध्याय हैं। ये हमारी सभ्यता, हमारे धर्म, सामाजिकता और राजपाट से जुड़े हैं। हम हाल के मुद्दों पर विचार करें और देखें कि गांधीजी उन मुद्दों के बारे में तब क्या सोचते थे। देखना है कि वे मुद्दे आज किस हाल में हैं।

अपन सभी जानते हैं कि सन् 1909 में भारतीय संसद एक दूर का सपना था। उस समय के सभी बड़े कांग्रेसी नेता इंग्लैंड की पार्लियामेंट को ही प्रेरणादायक मानते थे। गांधीजी उस पार्लियामेंट और उसके काम के कट्टर विरोधी थे। वे उसको समय की बर्बादी और सरकारी यानी जनता के पैसे की फिजूलखर्ची मानते थे। इतिहास इसका गवाह है। अब जब हम अपनी 14वीं भारतीय संसद

के कार्यकाल और उसके सदस्यों के व्यवहार को देखते हैं तो सौ बरस पहले लिखी गई गांधीजी की बातें ध्यान आती हैं। सांसद संसद में आते ही नहीं, सवाल उठाते हैं पर पूछे नहीं जाते हैं। मुश्किल से संसद में बिल रखे जाते हैं, जिन पर बहस तो होती है, पर बरसों लटकते रहते हैं। हमारी नई पीढ़ी से पहले की चार पीढ़ियों ने देखा नहीं कि संसद के भीतर होता क्या है। पर अब टेलीविजन पर सीधे प्रसारण के कारण पूरा देश देखता है, जिसमें सांसद एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए खुद भी इतने नीचे गिरते जाते हैं कि हम साधारण नागरिक अपने को कहीं बेहतर ऊंचाई पर खड़ा मान सकते हैं। संसद की कार्यवाही अक्सर नाटकीय लगती है। संसद में 'वोट के लिए पैसा' कांड ने दिखाया कि सांसद किस हद तक गिर सकते हैं या एक दूसरे को गिराना चाहते हैं। स्वतंत्र भारत में संसद की भूमिका और उसका आम लोगों पर प्रभाव, यह खोजबीन करने का एक विराट विषय है। प्रादेशिक संसदीय कार्यवाही में प्रति मिनट इस गरीब बताए गए देश का 46 हजार रुपए खर्च आता है। यह हम आप सबकी जेब से ही तो जाता है। लोगों की समस्या से जुड़े सवालों पर बहस ही नहीं होती। सांसद अपने क्षेत्र के उन्हीं आम लोगों के नुमाइंदे होते हैं।

विवादों की कठोर जिल्द से बंधी इस कोमल किताब में दो, चार, आठ, दस पन्नों के छोटे-छोटे 20 अध्याय हैं। ये हमारी सभ्यता, हमारे धर्म, और राजपाट से जुड़े हैं। हम हाल के मुद्दों पर विचार करें और देखें कि गांधीजी उन मुद्दों के बारे में तब क्या सोचते थे। देखना है कि वे मुद्दे आज किस हाल में हैं।

चुनावों में पैसे का बोलबाला होता है। इसलिए ही रईस राजनेताओं के बेटे-बेटी को चुनाव के टिकट आसानी से मिल जाते हैं। बरसों से पार्टी में काम करने वाले कार्यकर्ता नजरअंदाज होते ही रहते हैं। सभी राष्ट्रीय व प्रादेशिक पार्टियां योग्य लोगों को टिकट देने के बजाए रईस नेता के बेटे-बेटी को टिकट देते हैं। संसद का स्तर लगातार गिरा है। ऐसे कई रईस राजनैतिक परिवार हैं, जिनके सदस्य अलग-अलग पार्टी में हैं ताकि राजनैतिक पव्वा और उनकी धौंस बनी रहे। भारतीय संसद को लेकर आम लोगों में निष्ठा सिर्फ संसद पर सन् 2002 में हुए हमले के वक्त दिखी थी।

गांधीजी मानते थे कि एक स्थिर सुचारू सरकार के चलने में आम लोगों द्वारा लगातार निगरानी करते रहना जरूरी है। सोचने, विचार करने वाले लोगों में एक तरह की बेचैनी रहती है जो सुधार का सूचक है। सरकार के लगातार

सेवक बने रह कर विकास करते रहने के लिए समाज में 'रचनात्मक बेचैनी' जरूरी है।

देश में 'रचनात्मक बेचैनी व असंतोष' अगर बीसवीं सदी में आजादी के लिए जरूरी था तो सौ साल बाद सरकारों की 'नव उदार' नीतियों को लेकर तो और भी जरूरी होना चाहिए। इन नई नीतियों का लाभ सिर्फ कुछ गिने-चुने लोगों को ही हो रहा है। आज देश में किसानों की समस्याओं की ओर देखने-समझने वाले कम हैं। देश में 70 प्रतिशत लोग जब खेती पर निर्भर हों और सरकार उनको उनके हाल पर छोड़ दे तो सोचने-समझने वाले लोगों में एक तरह का असंतोष व बेचैनी होनी ही चाहिए। नर्मदा बांध परियोजना के कारण विस्थापित लोगों के लिए मुआवजे व अन्य समस्याओं के प्रति सरकार के रवैये पर ध्यान क्यों नहीं जाता है? पच्चीस साल बाद भी भोपाल में यूनियन कारबाईड गैस त्रासदी के शिकार लोगों को पूरा व सही मुआवजा नहीं मिला है। नंदीग्राम के किसानों व वहां के लोगों के विस्थापन पर लोग क्यों बेचैनी नहीं हैं। देश भर में ऐसे कई मुद्दे हैं जिन पर राज्य व केंद्र सरकारें लाचार व बहरी नजर आती हैं। बड़े शहरों के रईस व मध्यम वर्गीय लोग सिर्फ अपने उत्थान व उनसे जुड़ी सहूलियतों से संतुष्ट दिखते हैं।

गांधीजी मानते थे कि एक स्थिर सुचारु सरकार के चलने में आम लोगों द्वारा लगातार निगरानी करते रहना जरूरी है। सोचने, विचार करने वाले लोगों में एक तरह की बेचैनी रहती है जो सुधार का सूचक है। सरकार के लगातार सेवक बने रह कर विकास करते रहने के लिए समाज में 'रचनात्मक बेचैनी' जरूरी है।

गांधीजी के लिए भारतीय स्वतंत्रता के मायने उस समय के अंग्रेज-कांग्रेसी नेताओं से अलग थे। सिर्फ अंग्रेजों से आजादी ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी शासन से मुक्ति का सपना था। गांधीजी जानते थे कि लोगों को बाघ का स्वभाव तो चाहिए पर बाघ नहीं चाहिए। यानी भारतीयों को अंग्रेजी राज्य तो चाहिए पर अंग्रेज नहीं। गांधीजी को सच्चे स्वराज के लिए यह मान्य नहीं था। वे मानते थे कि बाघ का स्वभाव तो बाघ के साथ ही आता है। लोग बिना उनके शासन के भारत को ब्रिटेन या अमेरिका बनाने का सपना देखते हैं। गांधीजी का स्वराज इसमें कहीं खो जाता है। सच्चा स्वराज उनके लिए अंदरूनी आजादी है, जो बाहरी दुनिया से मुक्त हो।

आज भारत का कैसा स्वराज है? हमारे किसानों द्वारा उत्पादित सबसे अच्छा अनाज, फल, सब्जी और अन्य घरेलू जरूरतें हम डॉलरों के लिए निर्यात

करते हैं। हमारे किसान कठिन परिस्थिति और पानी की किल्लत में कड़ी मेहनत करते हैं और फिर भी अपने उगाए बेहतर अनाज, फल व सब्जी नहीं खा पाते। ज्यादा कमाने के चक्कर में खुद किसान अपनी अच्छी फसल महंगे बाजार में बेच आते हैं। बाजार का ही बोलबाला है। नव उदार और खुले बाजार के कारण सभी कुछ बाजार का है, बाजार से है और बाजार के लिए है। आजादी के इतने सालों बाद भी हमारे सबसे प्रतिभावान लोग, वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर और शिक्षक बाहर चले जाते हैं कमाने। बस कमाने। भारत में अनुकूल वातावरण नहीं बना पाए हैं। विदेशी सपने को साकार करने में हम खुश हैं। हमारे प्राकृतिक साधनों का शोषण दूसरों को तृप्त करने में हो रहा है।

गांधीजी ने जिस पश्चिमी सभ्यता के विरोध में ही यह पुस्तक लिखी थी, आज उसी सभ्यता के समर्थन में, उसे गले लगाने में हमारी सरकार, हमारा समाज, उसका सबसे अच्छा अंश हाथ बांधे खड़ा है। पश्चिम की पिटी हुई लकीर पर चलने के कारण हमारा हर क्षेत्र में दोयम दर्जा ही रहा है।

गांधीजी ने जिस पश्चिमी सभ्यता के विरोध में ही यह पुस्तक लिखी थी, आज उसी सभ्यता के समर्थन में, उसे गले लगाने में हमारी सरकार, हमारा समाज, उसका सबसे अच्छा अंश हाथ बांधे खड़ा है। पश्चिम की पिटी हुई लकीर पर चलने के कारण हमारा हर क्षेत्र में दोयम दर्जा ही रहा है। इतने वर्षों की आजादी के बावजूद हम किसी क्षेत्र में पहले नहीं बन पाए हैं, पहल नहीं कर पाए हैं। विश्व क्रिकेट और उसमें भी टेस्ट क्रिकेट में जरूर हम अभी पहले स्थान पर हैं। सचिन या सहवाग उतने ही स्वाभाविक व स्वदेशी हैं, जितना अन्य कोई भारतीय।

इस किताब में रेलगाड़ी, वकील और डाक्टरों को लेकर लिखी बातें तब भी कुछ को खटकती थीं और आज भी वह स्थिति बदली नहीं है। शताब्दी के आयोजनों में लगभग हर लेख, हर भाषण में पुस्तक को क्रांतिकारी बताने वाले, ऊंचा सिर उठाकर बोलने वाले लोग भी इन विषयों पर आकर थोड़ा सिर झुका लेते थे। आवाज धीमी कर लेते थे। अगर-मगर में फंसते थे।

देश में रेलगाड़ी अंग्रेज सन् 1853 में लाए। रेलगाड़ी लाने का मुख्य कारण हम भारतीय लोगों पर अपना वर्चस्व बनाए रखना ही था। रेलगाड़ी ने अंग्रेजों को वनों से कीमती लकड़ी, पानी, हरा सोना, सागौन, खनिज लूटने, कर वसूली, व्यापार बढ़ाने और फौज व हथियार एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में मदद की। गांधीजी मानते थे कि 'अच्छाई धीरे-धीरे बढ़ती है जबकि बुराई जल्दी फैलती है। उनके मुताबिक रेलगाड़ी ने अर्थपूर्ण सफलता को तेज लेकिन खुदगर्ज

बना दिया है। उन्होंने आरोप लगाया कि रेलगाड़ी ने देश में महामारी फैलाने का काम किया। उनका मानना था कि रेल के ही कारण देश में भुखमरी फैली, क्योंकि किसान अपनी पैदावार को महंगे बाजार में ले जाने लगा! गरीब किसान के पास कोई चारा नहीं रहा। इसके अलावा गांधीजी मानते थे कि रेल के ही कारण देश के तीर्थस्थान और भक्तिस्थल बिना परिश्रम के घूमने के भुलावे बन गए हैं। रेल के कारण भारतीय अखंडता आई ऐसे विचार पढ़े-लिखे थोड़े से लोगों में डालना भी अंग्रेजों की चाल ही थी।

आजादी के बाद आज भारतीय रेल दुनिया की सबसे बड़ी रेल व्यवस्था बन गई है। इतनी विशाल कि कई बार लगता है कि उसे सरकार नहीं, रेलमंत्री नहीं, भगवान ही चला रहा है। गांवों में पैदा हो रहे अनाज, फल और सब्जी शहरों में महंगे बाजार ले जाए जा रहे हैं और गरीब किसान आहत है। इस कारण अभी भी कई जगह भुखमरी होती है, महामारी फैलती है, अंग्रेजों की तरह ही हमारी रेलगाड़ी व्यापार, कर वसूली और फौजी हथियार जगह-जगह ले जाने के काम आती है। जंगल, खानों व खुले इलाकों से कच्चे, खनिज और प्राकृतिक माल के दोहन में भी रेल की निर्णायक भूमिका रही है। गोवा जैसे एक छोटे से राज्य में खनन का ऐसा घिनौना व्यापार जारी है जिसका वर्णन नहीं कर सकते। यहां की लंबी-लंबी रेलगाड़ियां पूरे दिन-रात यहां का लौह अयस्क खोद कर कारखानों और तिजोरियों का पेट भर रही हैं और यहां के उपजाऊ खेत, घने वनों को बुरी तरह नष्ट कर रही हैं। इन सब कारणों से उजड़ रहे गांवों में लोग फिर शहरों में रोजगार के लिए जाते हैं और वहां बेहद असम्मानजनक जीवन गुजारते हैं। रेलगाड़ी के ही कारण विस्थापन आसान हुआ है। इसे रोकने के लिए राज्य और केंद्र सरकारों ने गांव व छोटे शहरों में कोई सुविधाएं नहीं फैलाई है। तीर्थ स्थलों के लगातार बिगड़ते हाल सब के सामने हैं। देश की प्रमुख नदियों के किनारे बसे तीर्थस्थान भीड़भाड़ वाले गंदे और बदबूदार बाजारों में बदल गए हैं। पहले तीर्थ जाना दुर्लभ, कठिन और संस्मरणीय होता था। जो लोग जम्मू, हरिद्वार, वृंदावन या दक्षिण भारत के तीर्थ स्थान जाते हैं, वे जानते हैं कि इनका क्या हाल हो गया है।

गांधीजी ने इस रेल प्रसंग में रेल से भी कहीं ज्यादा तेज चलने वाले हवाई जहाज का जिक्र नहीं किया है। आज के जमाने में रेल की तरह की हवाई जहाज यात्रा के भी कई बुरे नतीजे पूरी दुनिया को भोगने पड़ रहे हैं। पिछले वर्ष सन् 2009 के मार्च माह में पूरी दुनिया में देखते-देखते स्वाइन फ्लू फैल गया था। हमारे देश में भी सभी जगह, खासकर पूना जैसे शहरों में तो इस बीमारी ने कई महीने एक तरह का आतंक ही फैला दिया था। भय के उस वातावरण में डाक्टरों

ने, डाक्टरी 'सेवाओं' ने, सेवा के बदले मेवा ही बंटोरा था पांच रुपए का मामूली मास्क, नकाब 200 रुपए से ऊपर ही बिका था। कुछ अरबों रुपए की विशेष नई बेमतलब की दवाइयां देखते ही देखते बाजारों में बिक गई थीं।

'हिंद स्वराज' में गांधीजी ने एलान किया कि हजारों साल से भारतीय लोग धार्मिक सहिष्णुता अपनाते रहे हैं। लोग एक दूसरे की आस्था व आचार शास्त्र को आदर से देखते रहे हैं। अंग्रेजों द्वारा हिंदु-मुस्लिम भेदभाव का बीज बोने से पहले देश में अनेक संप्रदाय शांति और उदारता से रहते थे। तब संप्रदाय शब्द का अर्थ भी कुछ और ही होता था। हिंदु-मुस्लिम अलगाववाद पैदा कर राज करना अंग्रेजी चाल थी। गांधीजी चाहते थे कि विभिन्न संप्रदाय सांस्कृतिक एकता बनाए रखते हुए अपनी अलग-अलग पहचान व परंपरा रखें। गांधीजी मानते थे कि जो हिंदु इस देश को सिर्फ हिंदुओं के लिए समझते हैं वे सपनों में रहते हैं। एक धर्म एक राष्ट्र का सिद्धांत दुनिया में कहीं नहीं है। गांधीजी को विश्वास था कि धर्म अलग-अलग तरह से एक ही बात कहते हैं। विभिन्न लोग अगर अलग-अलग रास्ते से एक ही मंजिल पर आते हैं तो कोई खराबी नहीं है।

आजादी के बाद आज भारतीय रेल दुनिया की सबसे बड़ी रेल व्यवस्था बन गई है। इतनी विशाल कि कई बार लगता है कि उसे सरकार नहीं, रेलमंत्री नहीं, भगवान ही चला रहा है। गांवों में पैदा हो रहे अनाज, फल और सब्जी शहरों के महंगे बाजार में ले जाए जा रहे हैं और गरीब किसान आहत है। जंगल, खानों व खुले इलाकों से कच्चे, खनिज और प्राकृतिक माल के दोहन में भी रेल की निर्णायक भूमिका रही है।

आजादी के बाद देश में जो जहर फैला, वह तो राजनेताओं के अपने स्वार्थ के कारण फैला है। इसके कोई और कारण नहीं दिखते। छोटे-छोटे आपसी झगड़े वोट राजनीति के कारण भयानक सांप्रदायिकता में बदल दिए जाते हैं। राजनेताओं ने सत्ता लोभ में लोगों को बहलाया और उन्हें वोट बैंक में बदल लिया है। देश में लोगों ने जहां भी धार्मिक सहिष्णुता का सहारा लिया वहां अलगाववाद नहीं पनपा। रूढ़िवादी हिंदु व मुस्लिम संगठनों को देश की जनता ने चलता किया और कभी राजनैतिक सत्ता नहीं सौंपी। लोगों ने ऐसे संगठनों को सदा नकारा है।

इंग्लैंड से बैरिस्टरी पास किए गांधीजी ने कभी वकालत के पेशे को प्रतिष्ठा वाला नहीं माना। वे मानते थे कि वकीलों के कारण देश गुलाम बना रहा। वकीलों ने आम लोगों में अलगाव बनाए रखा जिससे अंग्रेजी हुकूमत के पांव

मजबूत होते गए। वकालत वृत्ति ने सिर्फ अनैतिकता फैलाई। वकील सच उजागर करने के बजाए मुकदमें जीतने में ही विश्वास रखते थे। जब दो लोग या संस्थाएं झगड़ती हैं तो वकील पक्ष लेते हैं और मुकदमा लटकाते हैं। लगातार बढ़ते कचहरी के खर्चे गरीब को और गरीब बनाते हैं। वकील झगड़ों को खत्म करने के बजाए उनको घसीटते हैं। वकालत वृत्ति लोगों को अभाव से निकालने के बजाए अपनी पूंजी बढ़ाते नजर आती है। वकालत धन वृद्धि का साधन बना है और इस कारण वकील मनमुटाव बढ़ाते नजर आते हैं। वकील ऐसे कानून बनाते हैं जिससे उनकी प्रतिष्ठा बढ़े। समाज में वकील का योगदान एक साधारण व्यक्ति से ज्यादा नहीं होता है, पर वे कई गुना अधिक कमाते हैं। हिंदु-मुस्लिम विवाद बनाए रखने में वकीलों का योगदान रहा। गांधीजी मानते थे कि अगर दो भाई लड़ते हैं तो एक वकील कोई रचनात्मक सहायता नहीं कर सकता है। सिर्फ विवाद लंबा खींच सकता है। कचहरी के कारण ही अंग्रेजों ने सत्ता बनाई और कायम रखी। अपने झगड़े परिवार व मित्रों के बीच सुलझाने के बजाए कचहरी ले जाने से मनुष्य की मानसिकता कमजोर होती है। उनका भरोसा भाई बंधुओं से हट कर कचहरी में ज्यादा होता जाता है।

'कानून के हाथ लंबे हैं', यह तो चलो ठीक है। पर अपराधी को पकड़ने, न्याय दिलवाने में इतना लंबा समय क्यों लगता है? फिर छोटी से लेकर सबसे बड़ी अदालत तक लाखों मुकदमें अटके पड़े हैं। शायद न्याय दिलवाने का काम अंतिम दिन के लिए तो नहीं छोड़ दिया गया है!

जरा इन विचारों को देश में हाल के कानूनी माहौल में तो देखें। ऊंची प्रतिष्ठा, ऊंचे पद व धनी लोग जब अपराध करते हैं तो या तो उन्हें सजा मिलती ही नहीं है या बरसों लग जाते हैं। भुगतने वाला लाचार हो जाता है। चालाक व खुदगर्ज वकीलों के कारण बरसों मुकदमें चलते हैं और प्रतिष्ठावान व धनी लोग सजा से बचाए जाते हैं। बरसों चले मुकदमों में प्रियदर्शनी मट्टू, जेसिका लाल, बीएमडब्लू केस और हाल ही में जोर पकड़ता रुचिका आत्महत्या मामला और ऐसे अन्य मामलों के कारण वकीलों व कचहरी का मजाक ही तो उड़ा है। इसको न्यायालय की नाकामी और वकीलों की मनमानी माना गया है।

कानून के हाथ लंबे हैं, यह तो चलो ठीक है। पर अपराधी को पकड़ने, न्याय दिलवाने में इतना लंबा समय क्यों लगता है? फिर छोटी से लेकर सबसे बड़ी अदालत तक लाखों मुकदमें अटके पड़े हैं। शायद न्याय दिलवाने का काम अंतिम दिन के लिए तो नहीं छोड़ दिया गया है!

गांधीजी के मन में डॉक्टरों के प्रति भी कुछ इसी तरह के विचार थे। वकीलों की ही तरह डाक्टरों ने भी पेशे को धंधा बना रखा है। डॉक्टरी पढ़ाई करके गरीब व आम लोगों का इलाज करना व बीमार की सेवा करना डाक्टर का धर्म होना चाहिए। लेकिन वे धन और नाम कमाने में लग जाते हैं। गांधीजी डॉक्टरी पेशे के खिलाफ इसलिए भी थे क्योंकि वे मानते थे कि डाक्टर सिर्फ शरीर का इलाज करते हैं और मन को भूल जाते हैं। बहुत-सी बीमारियों का असर व लेना-देना मन और दिमाग से भी होता है। डॉक्टर सिर्फ शरीर का ध्यान रखते हैं, जिससे मन कमजोर होता जाता है। गांधीजी मनुष्यों के इलाज व दवा के अनुसंधान में जानवर व पक्षियों को मारने के भी खिलाफ थे। वे इसे अनैतिक मानते थे। इसके अलावा हमारी दवाओं के लिए जानवरों की त्वचा व वसा आदि का उपयोग भी ठीक नहीं है। आज डॉक्टरों की भूमिका अहम व प्रभावशाली हो गई है। डॉक्टर समुदाय ने अपने आप को इस तरह व्यवस्थित और स्थापित किया है कि उनका आदर और धन बढ़ता ही गया है। वे अब गरीब लोगों की सेवा या इलाज नहीं करते, बल्कि धन कमाने के लिए धनी का ही ध्यान रखते हैं। आजादी के साठ सालों बाद भी देश के गरीब अस्पताल सुविधा से वंचित रहते हैं या इंतजार करते हैं। शहरों के पांच सितारा अस्पताल सिर्फ अमीर लोगों को ही देखते हैं और सरकार अपने अस्पतालों को बेहाल होने देती है। डॉक्टर दवाई बनाने वाली कंपनियों से सांठ-गांठ कर दवाएं लिखते हैं। दवाएं महंगी हो रही हैं और पहुंच से बाहर हो गई हैं। डॉक्टरी के कारण उम्र तो बढ़ी है पर हम सबके जीवन की गुणात्मकता कम हुई है।

गांधीजी के लिए सच्ची शिक्षा मन, बुद्धि संकल्प और कामनाओं का निरंतर प्रशिक्षण है वे चाहते थे कि प्राथमिक शिक्षा में चरित्र निर्माण ही महत्वपूर्ण होना चाहिए। वे उस शिक्षा की अनिवार्यता, जोर-जबरदस्ती के सख्त खिलाफ थे जो बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में अंग्रेजी शैली पर भारत में लागू हुई। गांधीजी अक्षर ज्ञान के खिलाफ नहीं थे पर उसको ही सब कुछ मानने को वे भारी भूल कहते थे। वे सिर्फ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान को अंग्रेज राज की गुलामी मानते थे।

गांधीजी के लिए सच्ची शिक्षा मन, बुद्धि संकल्प और कामनाओं का निरंतर प्रशिक्षण है। वे चाहते थे कि प्राथमिक शिक्षा में चरित्र निर्माण ही महत्वपूर्ण होना चाहिए। वे उस शिक्षा की अनिवार्यता, जोर-जबरदस्ती के सख्त खिलाफ थे, जो बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में अंग्रेजी शैली पर भारत में लागू हुई। गांधीजी अक्षर ज्ञान के खिलाफ नहीं थे पर उसको ही सब कुछ मानने को वे भारी भूल

कहते थे। वे सिर्फ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान को अंग्रेज राज की गुलामी मानते थे। वे चाहते थे कि सभी भारतीय भाषाओं को बराबर दर्जा मिले और विद्यार्थी एक से ज्यादा भारतीय भाषा सीखें। अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई और अंग्रेजी ढंग की शिक्षा के ही कारण अंग्रेज अपना राज कायम रख सकते थे।

आजादी पाए हमें 62 साल से ज्यादा हो गए हैं, पर अभी भी हम अंग्रेजों का लिखा इतिहास ही पढ़ रहे हैं। अभी भी हम अंग्रेजी भाषा और उसी शिक्षा शैली के गुलाम बने हुए हैं। प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा में अभी भी अंग्रेजी भाषा को बढ़ावा दिया जाता है। बच्चों में और उनके माता-पिताओं में सिर्फ अंकों की चाह रह गई है। कितने प्रतिशत नंबर आए हैं इस एक तराजू पर ही आज नई पीढ़ी को तौला जा रहा है। शिक्षा में अंकों के कारण बढ़ती होड़ से विद्यार्थी मानसिक तनाव में घिरते जा रहे हैं। देश में किसानों के बाद अब छात्र-वर्ग में आत्महत्याएं हो रही हैं। गांधीजी होते तो आज वे इन्हें आत्महत्या के बदले हत्या ही कहते। कई बार ऐसा लगता है कि शिक्षा सिर्फ नंबरों, डिविजन और डिग्री के लिए ही हो रही है। और फिर उससे मिली महंगी नौकरी, वह भी विदेश में हो तो और अच्छा ऐसा वातावरण बन गया है। फिर इन नई महंगी नौकरियों में भी नए-नए मानसिक तनावों के किस्से बढ़ चले हैं।

जब सन् 1909 में हिंद स्वराज लिखी गई, तब भारत और विश्व का पहनावा मेनचेस्टर की कपड़ा मिल में बनता और तय होता था। मेनचेस्टर मिल में काम करने वाले लोगों का हाल गांधीजी देख चुके थे। मिलों में काम करने के कारण मजदूरों पर तरह-तरह के खतरनाक प्रभाव पड़ रहे थे। गांधीजी के लिए मेनचेस्टर में बने कपड़े पहनना भारतीयों का गुलाम बने रहना जैसा था। विदेशी कपड़ों पर निर्भर रहना गुलामी का सूचक था। मशीनों पर मजदूर कड़ी मेहनत करते, शोषित होते और मिल मालिक अमीर होते जाते। मजदूरों की हालत बद से बदतर होती रहती। हम लोग ईस्ट इंडिया कंपनी के आने के पहले हथकरघा और खुले वातावरण में अपनी सुविधा से बनाए गए कपड़ों को पहनते थे। श्रम, कला, जीवन, संतोष सब कुछ इन कपड़ों के ताने-बाने में रंगा-रचा होता था। मशीनें आने से यह सब खत्म हुआ। गांधीजी ने देखा कि मशीनें अनैतिक तरीकों से कुछ लोगों को अमीर बनाती हैं, और साथ ही बहुत सारे लोगों का शोषण कर उन्हें गरीब, लाचार बनाती हैं। अनैतिक तरीके से अमीर बने भारतीय अंग्रेजों की खिलाफत नहीं कर पाएंगे। ऐसे बने अमीर सिर्फ अंग्रेज हुकूमत को ही सही मानेंगे। फिर इस तरह लाचार बने लोग भी अपनी आजादी और गौरव की लड़ाई नहीं लड़ पाएंगे। लेकिन गांधीजी यह भी जानते थे कि बंदूक से गोली निकल चुकी है और मशीनी युग से वापस आना मुश्किल है।

आजादी के बाद बनाई गई औद्योगिक क्रांति अब मैदान बदल चुकी है। इंग्लैंड की मशहूर मेनचेस्टर मिलें अब बंद हो गई हैं। उसी दौर में थोड़े समय बाद मैनचेस्टर की नकल पर मुंबई, अहमदाबाद आदि में खुली मिलें भी अब ठप्प हो चुकी हैं। कपड़े और बाकी तो छोड़िए, इंग्लैंड में अब एक सुई भी नहीं बनती है। जो सभ्यता अंग्रेज दुनिया भर में फैलाना चाहते थे, वही इंग्लैंड की औद्योगिकता को खा गई। भारत में आजादी के बाद औद्योगिक क्रांति ने यहां भी पांव जमाए और फली-फूली। साल में दो-चार बार तो हमें अपने अखबारों, टेलिविजनों आदि से बताया जाता रहता है कि हमारे देश का कौन-सा आदमी दुनिया के अमीर लोगों की गिनती में किस सीढ़ी पर खड़ा है, चढ़ा है। जितने रईस भारत में हैं, उतने कहीं नहीं हैं। लेकिन इसी देश में 70 प्रतिशत ऐसे लोग भी हैं, जो 20 रुपए रोज भी कमा नहीं पाते। गरीब और अमीर के बीच की खाई औद्योगिक क्रांति के कारण शर्मनाक तरीके से बढ़ी है। सरकारी मदद से बढ़ते उद्योग और व्यापार के कारण पूंजी एकत्रित होकर गिने-चुने कुछ घरानों में सिमट कर रह गई है। मशीनों की उपयोगिता बढ़ने से आम लोगों के लिए रोजगार घटा है। गरीब और गरीब होते गए हैं।

इस चकाचौंध सभ्यता में गिने-चुने लोगों के पास छप्पर फाड़ पूंजी है और फिर एक बड़ी आबादी के ऊपर ढंका छप्पर फट चुका है और वे बेघर, बेरोजगार होकर पूरी तरह से उजड़कर अपने-अपने गांवों से भाग कर रेलगाड़ी पकड़कर मुंबई आदि शहरों में आते हैं। वहां उन्हें अपने 'स्वागत' में नवनिर्माण जैसे नारों पर बनी कोई सेना खड़ी मिलती है। नवनिर्माण का यह नया राज उन्हीं पुरानी रद्दी बातों पर टिका है, जिसे गांधीजी ने आज से एक सौ एक बरस पहले सौ टका ईमानदारी से कह दिया था। हम नए लोगों को इस बुरी व्यवस्था की सौ टका काट भी इसी हिन्द स्वराज में मिलेगी।

युवा लेखक श्री संदीप जोशी
एयर इंडिया की क्रिकेट टीम के खिलाड़ी हैं
और प्रायः खेल जगत से जुड़ी बातों पर लेख लिखते हैं।

*

हम कावेरी के बेटे-बेटी

महादेवन रामस्वामि

प्रकृति ने नदियों को बनाते, बहाते समय देश-प्रदेश नहीं देखे थे। लेकिन अब देश-प्रदेश अपनी नदियों के टुकड़े कर रहे हैं। कावेरी का विवाद तो कटुता की सभी सीमाएं पार कर गया है। यह झगड़ा आज का नहीं, सौ बरस पुराना है। लेकिन नया है इस कटु प्रसंग में सख्य, सहयोग और संवाद का प्रयास। इसे बता रहे हैं महादेवन रामस्वामि।

विश्व की सभी महान नदियां मानव-जाति की अनेक सुविख्यात सभ्यताओं की जन्म-भूमि रही हैं। इन नदियों के किनारे उभरी और विकसित हुई इन सभ्यताओं का अस्तित्व बस नदी से जुड़ा रहा है। नदी ने उन्हें दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए जल प्रदान किया है। पीने का पानी, निस्तार के लिए पानी, सिंचाई के लिए पानी, पशुओं के लिए पानी, ऊर्जा के लिए पानी क्या नहीं दिया इनने। नदी पर नाव द्वारा प्रयाण करके उन्होंने अपनी आसपास की दुनिया के बारे में जाना और अन्य क्षेत्रों, पास और दूर के समाजों के साथ संबंध बनाया। मौसम व समय के अनुसार बदलती नदी की प्रणाली को आधार बनाकर इन सभ्यताओं ने अपनी जीवन-शैली, अपने रीति-रिवाज, लोक-कथाओं व मान्यताओं को ऐसे सुंदर तरीके से रचाया कि नदी का प्रवाह जीवन के हर काम में उनका मार्गदर्शक बन गया।

लेकिन यह भी एक कड़वा सच है कि आज इन्हीं नदियों को दिव्य देन के रूप में देखने समझने के बजाय तरह-तरह की लालच, प्रदूषण और विवादों में परिवर्तित कर दिया है। यह प्रकृति के प्रति हमारे बदलते दृष्टिकोण के कारण हुआ है। मानव एक ऐसा दानव बन गया है जो समस्त सृष्टि को गुलाम बना उसे अपनी मन-मर्जी से चलाना और बदलना चाहता है। लेकिन अब इसके दुष्परिणाम सर्वत्र दिखने लगे हैं। जहां एक संबंध टूटा, वहां न जाने कितने अन्य संबंध बिखरने लग जाते हैं। जहां मनुष्य ने प्रकृति से लड़ाई शुरू की, वहां मनुष्य की मनुष्य से लड़ाई भी प्रारंभ हुई।

गांधीजी की कई साल पहले कही हुई बात आज के जन-जीवन के हर पहलू में, हर क्षेत्र और हर काम में सच साबित हो रही है कि सृष्टि हर व्यक्ति की जरूरतों को पूरा कर सकती है लेकिन वह किसी भी एक व्यक्ति के लोभ को संतुष्ट नहीं कर सकती। सर्वनाश की ओर तेजी से बढ़ती हम सब की इस कहानी में कुछ-कुछ जगह आशा की हल्की किरणें भी नजर आती हैं।

बिगड़ते संबंधों को फिर से स्थापित करने तथा अपने जल संसाधनों को एक संतुलित, टिकाऊ तरीके से प्रयोग करने का एक ऐसा अनोखा व आशाजनक प्रयास है 'कावेरी परिवार'। कावेरी हमारे देश की सप्त-सिंधुओं में से एक मानी जाती है। कर्नाटक तथा केरल से निकलते इसके अनेक स्रोत एक-दूसरे में मिलकर एक विशाल जल-धारा का रूप लेते हैं। फिर यह कर्नाटक और तमिलनाडु की विशाल भूमि से गुजरती हुई बंगाल की खाड़ी में शामिल हो जाती है। इस दौरान यह पुदुचेरी के दक्षिणी इलाके कारैकाल को भी छूती है।

सन् 1894 में उस समय के मैसूर राज्य ने अपने क्षेत्र में तालाबों इत्यादि पर कुछ काम करना चाहा तो मद्रास प्रेसिडेन्सी ने इस पर आपत्ति जताई। तमिल लोगों में तब यह बात फैल गई कि उनकी सदियों पुरानी सिंचित खेती-बाड़ी की स्वस्थ, सुन्दर प्रथाओं पर इन कामों का बुरा असर होगा।

475 किलोमीटर की लंबाई वाली यह नदी 72,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र को मापती है। कावेरी उतनी ही पुण्यकारी मानी जाती है, जितनी कि गंगाजी। खासकर हम दक्षिण के लोगों की भावनाएं इससे बहुत ही गूढ़ रूप से जुड़ी रही थीं। जैसे-जैसे अधिक लाभ उठाने के नाम पर, आधुनिक विकास के नाम पर चिरकाल से चलते आ रहे संतुलित संबंधों पर प्रहार हुआ तो विवाद भी उभरने लगे।

कावेरी विवाद का इतिहास थोड़ा पुराना है। शुरुआत तो एक बहुत ही छोटी-सी बात से हुई थी। सन् 1894 में उस समय के मैसूर राज्य ने अपने क्षेत्र में तालाबों इत्यादि पर कुछ काम करना चाहा तो मद्रास प्रेसिडेन्सी ने इस पर आपत्ति जताई। तमिल लोगों में तब यह बात फैल गई कि उनकी सदियों पुरानी सिंचित खेती-बाड़ी की स्वस्थ, सुन्दर प्रथाओं पर इन कामों का बुरा असर होगा। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि बड़े स्तर पर सिंचित कृषि और उससे जुड़ी 'आधुनिक विकास' की कहानी में कर्नाटक या (तब का मैसूर) जरा देर से आने वाला पात्र रहा है। हालांकि यह भी सच है कि उसने इस रास्ते पर कदम जरूर देरी से रखा, पर पिछले बीस-तीस वर्षों में उसने इसे बड़ी तेजी से नापा है। उसकी चाल दौड़ में बदल गई है।

वापस लौटें सन् 1894 में। आपसी विचार-विमर्श व वार्तालाप से यह मामला कुछ समय के लिए निपट गया था। पर कुछ साल बाद जब दोनों क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर बांध, जलाशय इत्यादि बनाने की चर्चा फिर से होने लगी, विशेष रूप से कृष्णराजसागर बांध तथा मेटूर जलाशय, तब दोनों पक्षों के बीच तनाव फिर से भड़क उठा। दूर दिल्ली की मध्यस्थता की मदद मिलने के बाद भी दोनों पक्ष किसी तरह के समझौते पर नहीं पहुंच पाए। मामला तब सात समुंदर पार लंदन तक पहुंचा। भारत पर उस समय अंग्रेजी शासन था। वहां से तो बस यही आदेश आया कि आपस में समझौता करो। दोनों पक्ष गुलाम जो ठहरे। आदेश मिलने पर भला और क्या करते। दोनों मुख्य पात्र दुबारा मिले और सन् 1924 का समझौता हो गया। पर दोनों ही प्रांतों में और अधिक विकास करने की कामना कहिए या लालच के जग जाने से इस समझौते के आधार पर चलते रहना मुश्किल साबित होता गया। देश के दक्षिण में पड़ौसी से मित्रता का आदेश जितनी दूरी तय कर लंदन से आया, उतनी दूरी अपने आंगन में नहीं तय कर पाया। अगले सौ बरस तक यह मामला ऐसा ही उलझा पड़ा रहा। बीच में देश आजाद भी हो गया पर दोनों पक्षों के बीच पानी का विवाद कटुता, परस्पर अविश्वास की जंजीरों में ही जकड़ा रहा।

इस बीच तमिलनाडु सरकार ने उच्चतम न्यायालय से आग्रह किया कि समस्या समझौते से नहीं सुलझ रही है और इसलिए अब तो इसका न्यायिक समाधान होना चाहिए। आखिरकार सन् 1990 में उच्चतम न्यायालय के आदेश पर कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल व पुदुचेरी के बीच कावेरी नदी के जल के न्यायपूर्ण बंटवारे के लिए एक 'ट्रिब्युनल' की घोषणा कर दी गई। ट्रिब्युनल ने सन् 1991 में अपना अंतरिम आदेश घोषित किया। इसमें उसने तमिलनाडु के किसानों के अनुरोध को ध्यान में रखते हुए इस विचाराधीन विषय में उन्हें अस्थायी रूप से राहत देने की कोशिश की। इस पर कर्नाटक में इसका तीव्र विरोध हुआ और वहां तमिलों के खिलाफ हिंसात्मक घटनाएं घटीं। हालांकि यह मात्र एक अंतरिम आदेश था, पर कर्नाटक के लोगों को लगा कि ट्रिब्युनल ने एक ऐतिहासिक अन्याय पर कानूनी मुहर लगा दी है। उधर तमिलनाडु में भी इन सब बातों की प्रतिक्रिया उग्र रूप धारण करने लगी। दोनों प्रदेशों के आपसी संबंध अपने न्यूनतम स्तर पर गिर गए थे। और यह प्रांतीय विवाद भारतीय संविधान के ढांचे को ही हिलाने लगा।

खुशकिस्मती से यह उग्र रूप फिर कुछ शांत हुआ। सन् 1991 में फैली हिंसा दुबारा नहीं भड़की पर आने वाले सालों में वातावरण तो तनावपूर्ण ही बना रहा। दोनों प्रदेशों के बीच संबंध अक्सर बेहद नाजुक हो जाते और भंगुर नजर

आते रहे। पांच में से चार सालों के दौरान जब दोनों राज्यों की भूमि पर पर्याप्त मात्रा में बारिश हुई तो कुल मिलाकर सब ठीक-सा ही रहा। पर कम बारिश के सालों में हर वक्त ऐसा लगता रहा कि अब फिर से एक महासंग्राम छिड़ जाने की आशंका है।

फरवरी 2007 में ट्रिब्युनल ने अपना अंतिम निर्णय घोषित किया। पर दोनों ही प्रदेशों ने उसे पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया है। दोनों ने ही ट्रिब्युनल के तौर-तरीकों के तहत उसके इस आदेश के स्पष्टीकरण हेतु अपनी-अपनी ओर से याचिकाएं भेजी हैं। साथ-साथ उन्होंने उच्चतम न्यायालय में भी 'स्पेशल लीव पेटिशन' दर्ज की है। इन सभी याचिकाओं पर ट्रिब्युनल व कोर्ट द्वारा कोई निर्णय अभी तक लिया नहीं गया है। कुल मिलाकर कानूनी स्तर पर मामला लटका हुआ है। इस सब में केरल व पुदुचेरी के लिए भी कोई स्पष्ट समाधान नहीं हो सका है। हालांकि ये दो पक्ष इस समस्या से उस हद तक प्रभावित नहीं हैं जितना कि दोनों मुख्य पक्ष कर्नाटक और तमिलनाडु हैं। दो मुख्य और दो गौण पक्ष चारों ही न्याय के दरवाजे पर बैठे हैं बस।

कावेरी का पानी आखिर अनंत तो नहीं है, वह तो सीमित है। उसका किसी भी प्रकार का बंटवारा हो, उसमें दोनों प्रदेशों को असीम विकास की मृगतृष्णा को समझदारी से त्याग कर यथार्थ से समझौता तो करना ही पड़ेगा। यह अहसास भी है कि ऐसा करना कोई दुखद बात नहीं होगी, क्योंकि बड़े बांध इत्यादि के निर्माण को छोड़कर जल संचयन जैसे कई अन्य व्यावहारिक विकल्प हैं, जिनसे वर्तमान स्थिति के मुकाबिले उतने ही पानी से कहीं अधिक लाभ पाया जा सकता है, और यह सब परस्पर हित व संबंध की नजर से ज्यादा फायदेमंद होंगे।

आज स्थिति यह है कि इस असमंजस से सभी पक्ष व्याकुल हैं। दो मुख्य पक्ष कर्नाटक तथा तमिलनाडु, दोनों ही प्रदेशों में इस विषय पर सही जानकारी रखने वाले लोगों को भीतर ही भीतर साफ मालूम है कि कावेरी का पानी आखिर अनंत तो नहीं है, वह तो सीमित है, उसका किसी भी प्रकार का बंटवारा हो, उसमें दोनों प्रदेशों को असीम विकास की मृगतृष्णा को समझदारी से त्याग कर यथार्थ से समझौता तो करना ही पड़ेगा। यह अहसास भी है कि ऐसा करना कोई दुखद बात नहीं होगी, क्योंकि बड़े बांध इत्यादि के निर्माण को छोड़कर जल संचयन जैसे कई अन्य व्यावहारिक विकल्प हैं, जिनसे वर्तमान स्थिति के मुकाबिले उतने ही पानी से कहीं अधिक लाभ पाया जा सकता है, और यह सब परस्पर हित व संबंध की नजर से ज्यादा फायदेमंद होंगे। पर आज दोनों

प्रदेशों में इस विषय को लेकर इतनी कटुता, अविश्वास का वातावरण है कि कोई यदि ऐसा खुलकर सार्वजनिक सभा में या अखबारों पत्रिकाओं में कहे, तो उसे अपने-अपने प्रदेश के हित के विषय में गद्दार बता दिया जाएगा। इस मुद्दे पर प्रदेश में और उनके बीच राजनीति का खेल कुछ ऐसा ही खेला जा रहा है। दोनों ही जगह लोग भड़काए जा रहे हैं और विषय का असली स्वरूप उनके सामने नहीं रखा जा रहा है।

यह तो हुई गतिरोध और विवाद की पृष्ठभूमि। इसी पृष्ठभूमि में अमन और परस्पर समझ का बीज बोने के प्रयासों का भी एक अपना इतिहास है। 1991-92 में जब माहौल बहुत बुरी तरह से बिगड़ गया था तब कई समाज-सेवकों व बुद्धिजीवियों ने इस जटिल समस्या को किसी दूसरे तरीके से सुलझाने के रास्ते खोजने शुरू किए। मद्रास इंस्टिट्यूट ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज के स्वर्गीय डा. एस. गुहन ने इस दिशा में पहल की। उनकी अगुआई में अनेक स्थानों पर सार्वजनिक सभाएं आयोजित की गईं, जहां दोनों प्रदेशों से व समाज के अलग-अलग क्षेत्रों से समस्या पर गौर करने की इच्छा रखने वाले लोग एकत्रित हुए और उन सभी ने खुले मन से एक-दूसरे की बातों व मुद्दों को सुनने और समझने की कोशिश की। इसका प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे अखबारों व पत्रिकाओं में इस नए आयाम के बारे में कुछ थोड़ा-थोड़ा जिक्र भी होने लगा। अब तक दोनों प्रदेशों के अखबारों, पत्रिकाओं, टी.वी. आदि में एक तरह की जो अघोषित सेंसरशिप-सी लगी थी, वह कुछ ढीली पड़ने लगी थी। लेकिन अफसोस कि शुरू की ये कोशिशें रफ्तार नहीं पकड़ पाईं और डा. गुहन का अकाल निधन हो जाने पर ऐसा लगा जैसे कि उनकी यह सदिच्छा, सद्भाव, समभाव भी अपनी आखिरी सांस ले चुका है।

पर यह तो हम सबका सद्भाव ही था कि ऐसा नहीं हो पाया। यह मात्र एक शुरुआत थी और इसके महत्व का सही अनुमान समाज को आने वाले सालों में दिखने वाला था। केन्द्र सरकार में लंबे समय तक जल-संसाधन सचिव रह चुके श्री रामस्वामि आर. अय्यर ने सन् 2002 में बेंगलुरू में बुद्धिजीवियों व तकनीकी विशेषज्ञों की एक बैठक आयोजित की। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए उन्होंने भी अखबारों-पत्रिकाओं में कई लेख लिखे। इन सब प्रयासों ने समस्या को राजनीति व कोर्ट-कचहरी के भयानक दलदल से निकालकर उसे विवेक के खुले आंगन में रखने की चेष्टा की।

इन सभी प्रारंभिक प्रयासों की बुनियाद पर रचाया जाने वाला था कावेरी परिवार। पर वह अब भी एक ऐसी विभूति की प्रतीक्षा कर रहा था जो कि इस समस्या के समाधान को अपना ध्येय समझ उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करें।

डा.एस.जनकराजन के रूप में यह सज्जन सामने आए। और यह उचित ही था कि वे भी उसी संस्था, एम.आई.डी.एस. से जुड़े थे, जहां से इस कहानी की शुरुआत हुई थी। कावेरी की समस्या पर अपना ध्यान लगाने से पहले उन्होंने पालार नदी द्रोणी में कुछ ऐसा ही काम शुरू किया था। इसमें उन्होंने उस नदी के जल के उपयोग से सरोकार रखने वाले दोनों किनारों पर बसे सभी पणधारियों को संगठित किया। उन सबके बीच नदी से जुड़ी हर बात पर, हरेक विवाद पर आपसी संवाद प्रारंभ करवाया। यह प्रयास यद्यपि कावेरी की तुलना में बहुत छोटे पैमाने का था, फिर भी इससे उत्पन्न हुए अनुभव उनके लिए कावेरी समस्या से जूझने में बहुत लाभप्रद रहे।

कोई पूछ सकता है कि क्या यह कावेरी परिवार विवाद का हल निकाल लेगा? यह सच है कि 'कावेरी परिवार' के ये सदस्य विवाद में निर्णयकर्ता होने का अधिकार नहीं रखते हैं। पर दूसरी ओर यह भी अवश्य कहा जाना चाहिए कि उनके इस मैत्रीपूर्ण मेल के अभाव में कौन जाने आज तक कैसा हिंसात्मक और प्रतिकूल वातावरण विकसित हुआ होता।

आज से करीब 6 वर्ष पहले सन् 2003 में जनकराजनजी ने कावेरी पर प्रयास शुरू किए। उन्होंने कावेरी नदी द्रोणी के किसानों की पहली बड़ी बैठक आयोजित की। इसमें कर्नाटक तथा तमिलनाडु के किसान अपने बीच खड़े किए गए सारे झगड़ों को अलग रखकर पहली बार सद्भावना और मैत्री के वातावरण में एक दूसरे से मिले। इस अनोखे मेल का मनोभाव यह था कि हम दोनों कावेरी मां के बेटे-बेटी हैं।

इसी दौरान समाधान प्रयास के लिए कावेरी परिवार जैसा सुंदर शीर्षक भी पहले लोगों के मनों में, फिर कागजों में भी अपनाया जाने लगा।

कई साल बीत चुके हैं और इस बीच दोनों प्रदेशों के इन कृषकों के लिए कावेरी के जल की उपलब्धि के चित्र में समय और मौसम के अनुसार वही रूपांतर आते रहे हैं जो पहले से आते रहे थे, पर उनकी आपसी मैत्री वैसी ही बनी रही है, यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण प्राप्ति है। यह परिवार हर बार अपने विवादों को ताक पर रखकर कई बार बेंगलुरू, चेन्नई तथा इन महानगरों के अलावा दोनों प्रदेशों के अन्य छोटे शहरों में भी एकत्रित हुआ है। यहां किसानों की आवाज को प्राथमिकता दी गई है। डा. जनकराजन तथा प्रो. रामस्वामि अय्यर जैसे अन्य शुभचिंतकों व विशेषज्ञों ने भी इस प्रक्रिया में अपनी-अपनी भूमिकाएं निभाई हैं। इन बैठकों के बाद दोनों प्रदेशों के किसान एक दूसरे के गांव भी गए हैं, जिससे

उन्हें एक दूसरे की कृषि व जल संबंधी आवश्यकताओं तथा समस्याओं का प्रत्यक्ष रूप से अहसास हुआ है। राजनैतिक स्तर पर कावेरी विवाद अब भी काफी हद तक कठोरता कट्टरता और प्रांतीय स्वार्थीपन की संकीर्ण भाषा में संचालित किया जा रहा है, फिर भी प्रभावित होने वाले किसानों के बीच, मतभेद होते हुए भी कावेरी नदी की पौराणिक सुसंस्कृत सभ्यता की मिठास और सुगंध आज एक बार फिर उठ चली है।

कोई पूछ सकता है कि क्या यह कावेरी परिवार विवाद का हल निकाल लेगा? यह सच है कि 'कावेरी परिवार' के ये सदस्य विवाद में निर्णयकर्ता होने का अधिकार नहीं रखते हैं। पर दूसरी ओर यह भी अवश्य कहा जाना चाहिए कि उनके इस मैत्रीपूर्ण मेल के अभाव में कौन जाने आज तक कैसा हिंसात्मक और प्रतिकूल वातावरण विकसित हुआ होता।

आज राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर इस सुंदर व अद्‌भुत प्रयास की चर्चा भी होने लगी है। दोनों प्रदेशों में बाहर से कई पर्यवेक्षक और जिज्ञासु इस अनूठे आंदोलन को देखने समझने आ चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के यूनेस्को के द्वितीय 'वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट' के पृष्ठों में भी जल संसाधनों के सदुपयोग को एक सहभागी कर्तव्य बताते हुए, उदाहरण के रूप में 'कावेरी परिवार' का जिक्र किया गया है।

कानूनी प्रक्रिया फिलहाल अनिश्चित काल तक लटके जा रही है। एक-न-एक दिन सरकार को भी अंततः इस पर गौर करके कुछ निर्णय लेने ही पड़ेंगे। क्या कावेरी परिवार के सदस्यों के बीच यह सख्य, सहयोग और संवाद उस निर्णय के आ जाने के बाद भी बुलंद रहेगा? शायद इसका अनुमान लगाना इस वक्त संभव नहीं है। शायद यह हम सबका दायित्व बनता है कि हम इस प्रयास को और मजबूत व कारगर बनाने में अपना योगदान दें और देश, बल्कि समस्त विश्व के समक्ष इसे एक आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करें। निश्चित रूप से, यदि गांधीजी आज हमारे बीच होते तो वे यही कहते, यही करते।

युवा महादेवन रामस्वामि सामाजिक विषयों पर
प्रेरक फिल्में बनाते हैं। मातृभाषा तमिल, कामकाजी भाषा
अंग्रेजी होते हुए भी यह उनका हिन्दी में लिखा गया पहला लेख है।

*

हिंसा की जड़ें और उसकी शाखाएं

धीरुभाई मेहता

सरकार ने पश्चिम बंगाल, बिहार, झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और महाराष्ट्र में चलने वाली नक्सलवादी प्रवृत्ति के विरोध में कड़ी पुलिस कार्यवाही शुरू की है। उनके साथ यह अब सीधी लड़ाई है। सरकार ऐसा भी कह रही है कि यदि नक्सलवादी हिंसा का त्याग करें तो ही उनके साथ बातचीत करेंगे। हालांकि पिछले कुछ समय में गृहमंत्री चिदंबरम् जरा ढीले पड़े हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि 72 घंटे के लिए भी नक्सलवादी हिंसा छोड़े तो उनके साथ चर्चा के लिए तैयार हैं। जब से वे गृहमंत्री बने हैं, नक्सलवादियों के प्रति कड़ा बर्ताव कर रहे हैं। सरकार मानती है कि नक्सलियों की हिंसा और आतंकवाद देश की सुरक्षा के लिए एक बड़ी चुनौती है।

नक्सलवाद की शुरुआत 60 के दशक में बंगाल में हुई थी। आज नक्सल प्रवृत्ति देश के 600 जिलों में से कोई 180 जिलों में फैल चुकी है। आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, झारखंड, बिहार और बंगाल में यह पूरे जोर पर है। जिन नक्सलवादियों को हम उनकी हिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण धिक्कारते हैं, उन जिलों के लोग उन्हें अपना उद्धारक मानते हैं। क्या सरकार को यह मालूम नहीं?

किसी भी हिंसात्मक प्रवृत्ति का शस्त्र से सामना करने से उसका संतोषजनक हल नहीं निकल सकता इसे सरकार क्यों नहीं समझती? हमारे विरोध में खुलेआम आतंकवाद का सहारा लेने वाले हमारे पड़ोसी पाकिस्तान के साथ चर्चा बातचीत करने में हमें एतराज नहीं। तो फिर अपने ही देश के लोगों के साथ, चाहे वे नक्सलवादी हों या असम के उग्रवादी हों, उनके साथ बातचीत करने में क्या एतराज हो सकता है? पाकिस्तान आतंकवाद नहीं छोड़ता फिर भी हम उसके साथ चर्चा करके लिए तैयार हैं तो अपने ही देश के भटक गए युवाओं के साथ बात करने से कैसे इन्कार कर सकते हैं?

इस नक्सवलवाद की जड़ क्या है? जहां से इस आतंकवाद की शुरुआत हुई, बंगाल के उस नक्सलबाड़ी गांव में मैं स्वयं गया हूं। मैंने सब देखा है, वहां रहा भी। उस गांव की गरीबी और लोगों का शोषण जिस तरह और जिस प्रमाण में हो रहा है, उसे रोकने के लिए हम क्या कर रहे हैं। नक्सलवाद के अधिक प्रमाण

में फैलने का मुख्य कारण उनका शोषण है। 'आदिवासियों' के विकास की बात तो करते हैं, किंतु उनकी बलि चढ़ाकर विकास के कदम बढ़ रहे हैं। कई पीढ़ियों से जिनकी मालिकी की जमीन है, ऐसे आदिवासियों की जमीन बड़े-बड़े कारखानों के लिए हड़प ली जाती हैं। और जब कोई आदर्शवादी युवक इसका विरोध करता है तब उसे नक्सलवादी का नाम देकर मारते-पीटते हैं, जेल में कैद कर लेते हैं। ऐसे ही हमारे एक कार्यकर्ता मित्र हैं, जो व्यवसाय से डाक्टर हैं। उन्होंने उड़ीसा के आदिवासियों की जमीन हड़पने का विरोध किया तो उनकी मारपीट हुई उन्हें जेल में बंद कर दिया। बाद में किसी न्यायाधीश ने उन्हें निर्दोष साबित करके मुक्त किया तो कोर्ट के बाहर फिर किसी काल्पनिक गुनाह के बहाने उन्हें फिर अंदर कर दिया। सच्ची हकीकत जानने के बाद एक अन्य न्यायाधीश ने उनके प्रति कुछ सहानुभूति दिखाई तो उस जज का 48 घंटे में ट्रांसफर कर दिया गया।

जिस गांव में निजी कंपनी जमीन लेना चाहती है, वहां कंपनी कुछ बदमाश माने गए लोगों को किराए पर लेती है। ये लोग कार्यकर्ताओं को गांव में जाने से रोकते हैं। वे लोग जब किसी निर्दोष आदिवासी या किसी कार्यकर्ता के साथ मारपीट करते हैं, तब यदि पुलिस भी वहां हाजिर हो तो वह कुछ भी नहीं करती। बस तमाशा देखती है। हाजिर लोगों में से जब कोई पुलिस को फरियाद करते हैं या कुछ कार्यवाही करने को कहते हैं तो उन्हीं को डपट दिया जाता है कि हमारा फर्ज हम जानते हैं, आप बीच में न पड़ें।

हमारी सरकार या नेताओं ने इन गांवों की दशा को समझने का जरा भी प्रयत्न नहीं किया है। जब तक विकास के नाम पर किसी की जमीन जबर्दस्ती हड़पने का प्रयत्न होगा तब तक नक्सलवाद जैसी प्रवृत्ति कम नहीं होगी। हमारा जो सभ्य समाज हिंसा का विरोध करता है, उसे हिंसा की जड़ तक जाने का समय कभी मिलता है क्या? किसी भी अधिकारी, व्यापारी या मंत्रियों की जमीन कभी इस तरह किसी ने हड़पी है क्या?

हमारी सरकार या नेताओं ने इन गांवों की दशा को समझने का जरा भी प्रयत्न नहीं किया है। जब तक विकास के नाम पर किसी की जमीन जबर्दस्ती हड़पने का प्रयत्न होगा, तब तक नक्सलवाद जैसी प्रवृत्ति कम नहीं होगी। हमारा जो सभ्य समाज हिंसा का विरोध करता है, उसे हिंसा की जड़ तक जाने का समय कभी मिलता है क्या? किसी भी अधिकारी, व्यापारी या मंत्रियों की जमीन कभी इस तरह किसी ने हड़पी है क्या? तब तो ये लोग संविधान के प्रापर्टी राइट्स और

फंडामेंटल राइट की बातें करते हैं। एक ही उदाहरण दूं तो काफी होगाः

जिस मकान में गांधीजी की हत्या हुई थी, उसे राष्ट्रीय स्मारक बनाने के लिए सरकार को 25 से अधिक वर्ष लगे और पता है कैसे! उसी रोड पर उतनी ही जमीन और वैसा ही मकान बनाने के लिए 5 करोड़ रुपए का मुआवजा दिया गया, तब कहीं वह स्मारक बन सका। तो फिर जिनकी जिंदगी जो जमीन है, जिनके परिवार की रोटी का एकमात्र साधन जो जमीन है, उसे किसी कारखाने के लिए देने की जबर्दस्ती कैसे की जा सकती है। और ऐसी दशा में सरकार की ओर से या भद्र वर्ग की तरफ से उन्हें किसी मदद की भी आशा न हो तो वे मजबूर लोग क्या करें? जो उनके हित की सोचे, संकट में सहायता करने के लिए तैयार हो उसी की ओर तो वे खिंचे जाएंगे। तब वे हिंसा-अहिंसा की बात नहीं सोचेंगे। एक बात और। उस गरीब आदिवासी से हड़पी हुई जमीन का उपयोग औद्योगिक विकास के लिए होगा, इसका भी कोई ठिकाना नहीं। विकास के नाम पर हड़पी हुई जमीन के आधार से हमारे नेता करोड़ों की रिश्वत लेते हैं।

हिंसा की राह किसी की भी पहली पसंद नहीं होती। किसी भी मनुष्य या समुदाय का यह अंतिम शस्त्र होता है। गलत मार्ग पर, हिंसा के मार्ग पर चलने वाले को सरकार राजनैतिक पक्ष और समाज यह विश्वास दिलाए कि हिंसा के बिना भी समस्या सुलझ सकती है। इसके लिए जबर्दस्ती फिर चाहे कानूनन क्यों न हो, लोगों की जमीन हड़पना बंद करना होगा।

ऐसी अनेक घटनाएं हमें सोचने पर मजबूर करती हैं कि जमीन विकास के लिए थी या कमाई के लिए? अभी का ताजा उदाहरण लें। झारखंड के एक विलक्षण मुख्यमंत्री ने एकाध वर्ष की कुर्सी में हजारों करोड़ एकत्र कर लिए। कोई चार हजार करोड़ का आंकड़ा बोला जा रहा है।

हमारे गृहमंत्री आक्षेप करते हैं कि नक्सलवादी लोगों को भड़काते हैं, उनका कहना है कि नक्सली लोकशाही पद्धति से चुनाव लड़ें, सत्ता हासिल करें और सहकार द्वारा अपने प्रश्नों को सुलझाएं तो हमें कोई एतराज नहीं। ऐसी बातें कहने वाले गृहमंत्री और भद्र समाज सच में क्या ऐसा मानते हैं कि कोई प्रामाणिक आदमी आज चुनाव में जीत सकता है?

सरकार और समाज सब विचार करें। यदि ऐसी ही परिस्थिति चलती रही तो नक्सलवाद को भला कैसे रोक पाएंगे। यह काम कौन करेगा? आज का भ्रष्टाचारी सरकारी तंत्र? देश के गृहसचिव कहते हैं, "हमारे पास व्यावसायिक पुलिस फोर्स नहीं है। हमने पुलिस का राजनैतिक उपयोग करके उसे कानून

व्यवस्था संभालने में असमर्थ बना दिया है।" पुलिस और राजनीति एक दूसरे का आधार बन गए हैं।

कुछ वर्ष पहले की बात याद आ रही है। पंजाब में आतंकवाद पराकाष्ठा पर था। तब पुरुषोत्तम अग्रवाल, जो स्वयं को गांधीवादी नहीं मानते, जो साम्यवाद के समर्थक माने जाते हैं, वे आतंकवादियों से मिलने पंजाब गए थे। चर्चा, बातचीत शुरू हुई। आधी रात बीच चुकी थी। तब उस समय तीस बरस की उम्र का एक आतंकवादी कहता है, "आज गांधीजी होते तो हमारे प्रश्न का, हमारी फरियाद का शांतिमय हल जरूर मिल जाता।" पुरुषोत्तम अग्रवालीजी ने पूछा, "कैसे? गांधीजी क्या करते भाई? युवक ने जवाब दिया, "यह तो मुझे भी नहीं मालूम। किंतु वे हमारे बीच आकर बैठते जरूर। उनकी बातों की, उनकी सलाह की न तो हम उपेक्षा करते, न दिल्ली की सरकार।"

पिछले दिनों हमारी सर्वोच्च अदालत ने कहा था कि नक्सलियों के विरुद्ध सच्चे-झूठे आक्षेप बंद करो। वे अभी हमारे सामने नहीं हैं। बस्तर में काम कर रहे हिमांशुजी ने राज्य पुलिस की ओर से 10 नक्सलियों को मारने के आरोप में पब्लिक सुरक्षा की अरजी दाखिल की थी। तब सर्वोच्च न्यायालय ने कहा थाः "पहले आप कहते हैं कि वे खुद नक्सल हैं। फिर कहते हैं उन्हें नक्सलियों के प्रति सहानुभूति है। फिर बाद में कहते हैं कि उन्हें नक्सल सहानुभूतिवालों के प्रति सहानुभूति है। ये सब क्या चल रहा है?

अंत में एक बात याद रखें। हिंसा की राह किसी की भी पहली पसंद नहीं होती। किसी भी मनुष्य या समुदाय का यह अंतिम शस्त्र होता है। गलत मार्ग पर, हिंसा के मार्ग पर चलने वाले को सरकार, राजनैतिक पक्ष और समाज यह विश्वास दिलाए कि हिंसा के बिना भी समस्या सुलझ सकती है। इसके लिए जबर्दस्ती फिर चाहे कानूनन क्यों न हो, लोगों की जमीन हड़पना बंद करना होगा। हिंसा मात्र शारीरिक नहीं होती। शोषण की जड़ में भी हिंसा ही है। इस देश को लोहे के दो-चार कारखाने नहीं मिलेंगे तो चलेगा, परंतु देश की पीड़ित जनता के एक बड़े समूह का सरकार से, राजनैतिक पक्षों से और भद्र लोगों पर से विश्वास उठ जाए, यह नहीं चलेगा। किसी भी सरकार का जनता पर राज तभी तक चलता है, जब तक सरकार की विश्वसनीयता कायम रहे।

श्री धीरु भाई कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट,
कस्तूरबा हैल्थ सोसायटी, के अध्यक्ष और ऐसी अन्य कई
प्रमुख रचनात्मक संस्थाओं के सदस्य हैं और बजाज उद्योग से भी संबद्ध हैं।

*

रामजी इस मस्जिद की रक्षा करें

स्वामी वाहिद काजमी

ऐसा कई बार होता है कि समाज में हिंसा, घृणा, कट्टरता, संकीर्णता और असहिष्णुता से जुड़ी घटनाएं तो हमें बार-बार याद आती हैं, और हम उनकी बरसी भी मनाते हैं ताकि समाज में ऐसी भयानक घटनाएं दुबारा न घट सकें। लेकिन ऐसा कम ही होता है कि हम अहिंसा, स्नेह, प्रेम, उदारता और सहिष्णुता से जुड़ी उन घटनाओं को भी याद करें, याद करवाएं ताकि समाज में ये काम और भी फैल सकें। एक ऐसी ही अनोखी घटना का वर्णन कर रहे हैं स्वामी वाहिद काजमी।

इस महादेश की पाकीजा मिट्टी से जन्मे अति साधारण लोगों ने एकता की, भाईचारे की, प्यार-मुहब्बत की, खुलूस व इंसानियत, धर्म व ईमान की ऐसी अनुकरणीय मिसालें, ऐसी मजबूत निशानियां छोड़ी हैं, जिनके समक्ष कभी-कभी तो उत्तर से दक्षिण तक अपना विस्तृत साम्राज्य फैलाए सम्राटों और प्रतापी बादशाहों तक के इस उद्देश्य से किए गए ऐतिहासिक प्रयास भी बौने-से प्रतीत होने लगते हैं। इसी प्रकार के एक अनूठे, प्रेरक व आदर्श प्रयास की, ठोस निशानी की चर्चा इस समय करनी है।

राजस्थान के अलवर जिले में प्रतापगढ़ कस्बे से लगभग दस-बारह किलोमीटर दूर, एक छोटा-सा गांव है समरा। वर्षा ऋतु में कल-कल करते पहाड़ी नालों के संगीत को सुनकर प्रकृति की ममतामयी गोद में मानो किलकारियां मारता। लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व जब दिल्ली के मुगल सिंहासन पर औरंगजेब आसीन था, यह गांव एक छोटे-से अधीनस्थ राजा के इलाके भानगढ़ में शामिल था। इसी गुमनाम नन्हें-से ग्राम समरा का निवासी था वह नेकदिल, संगीत प्रेमी

और सही अर्थों में धार्मिक इंसान। एक निरक्षर गूजर-परिवार में जन्मे उस नेक आदमी का नाम था खेमा भोपा। समाज को भाईचारे के मजबूत रिश्ते में जोड़े रखने की अनूठी मिसाल यहां दो इबादतगाहें उसी ने बनवाई थीं एक खुदा का घर मस्जिद, दूसरा देवनारायण का मंदिर। एक ही आंगन में एक दूसरे के समीप बनी ये दोनों इमारतें दो मासूम बाल-सखियों की तरह, आपस में सिर जोड़े मानों प्यार-मुहब्बत की बतकही में लीन!

तीन सौ वर्षों में काल-परिवर्तन ने बहुत कुछ बदल दिया है। काल के क्रूर हाथों ने काफी कुछ मिटा भी दिया है। किंतु मेरे संग्रह में इस आदर्श स्थान के अतीत का अच्छा खासा विवरण वर्षों से सुरक्षित है। पहले जहां यह देव नारायण मंदिर कहा जाता था, वह अब यहां के चलन में 'देव का देवरा' नाम से जाना जाता है। यहां केवल देव नारायण की ही प्रतिमा नहीं, बल्कि हिन्दू धर्म के विविध पंथों तथा समुदायों के अनेक देवी-देवताओं की छोटी-सी ऐसी बस्ती रही है यह जगह। ऐसी मिसाल शायद ही कहीं और देखने में आ सके। इसमें न तो कोई खास सजावट, न इसकी शिल्प-शैली अलंकृत अथवा कलात्मक थी। फिर भी कुछ तो अपनी सादगी और विशालता और कुछ इस बात से भी यह अपना एक अलग-सा, प्रेरक आकर्षक स्थान रखता रहा कि एक ही स्थान पर विभिन्न समाजों के देवी-देवता बिना किसी भेदभाव के, एक समान श्रद्धा और सम्मान के साथ प्रतिस्थापित रहे।

इस स्थान में देव-नारायण, काला-गोरा, भैरव देवता के साथ-साथ भोपाजी, महदूजी तथा भैरों कोटवाल की मूर्तियां विराजमान थीं। पीछे की ओर महादेव शिव के साथ-साथ दांतोंजी नापाजी तथा जैतौजी की मढ़िया थी। इसके निकट छोटे-से प्रस्तर-स्तंभ पर सूर्य, चंद्र, गणेश और भोपा की सादी रूपाकृतियां उत्कीर्ण थीं। मंदिर के ठीक सामने स्वयं खेमा भोपा की प्रतिमा थी। जिस प्रकार देवी सरस्वती के हाथों में वीणा होती है, उसी प्रकार खेमा भोपा के हाथ में मशक बीन। आम बोलचाल में इसे मशक बाजा और अंग्रेजी में इसे बैग पाइप कहते हैं। अपने वादन द्वारा ही इस बिरादरी के लोग अपने आराध्य और कुल देवी-देवता की पूजा करते हैं।

यहां 'भोपा' शब्द तनिक तफसील तलब इसलिए है कि अब हम अपनी जड़ों से इस बुरी तरह उखड़ चुके हैं कि लोक, संस्कृति किस चिड़िया का नाम है, वह कहां बसेरा करती है और कितने सुरों में बोलती, चहकती है, प्रायः नहीं जानते। जिनका इस देश के ग्राम-जीवन से कसम खाने का भी कुछ सरोकार नहीं, वे तो इस बारे में कुछ भी नहीं जानते होंगे।

इस देश के लोक-जीवन में धर्म-प्रधान, भक्ति पूर्ण, गीत-संगीत के सुरों का

पर्याप्त रचाव रहा है। भले उसका वह पुराना पारंपरिक रूप न पाया जाए, पर आज भी वह है। नाना पंथों के जोगी, बैरागी, फकीर साधु आदि किसी विशेष देवी-देवता का विरुद, भजन, कीर्तन, सदियों से गाते-बजाते चले आ रहे हैं। वही उनके समाज, समुदाय, पंथ की पहचान बन गई है। यह गायन-वादन एक प्रकार से धार्मिक कर्म और एक सीमा तक जीविकोपार्जन का सुलभ साधन भी बना रहा है। जिस प्रकार बंगाल के बाउल, दक्षिण के अलवार, महाराष्ट्र के बड़वे और डांगे, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के जोगी (बम लहरी गायन के लिए विशेष प्रसिद्ध), ब्रज क्षेत्र के जिवड़ी गायक, देवनाराणजी की महिमा गाने वाले गायक, रात-रात भर पाबूजी की फड़ (प्रशस्ति) के लोक-गायक होते हैं, उस तरह राजस्थानीय लोक-गायकों का ही एक विशेष समुदाय है भोपा। मशक बाजा इनका प्रमुख वाद्य है।

एक निरक्षर गूजर-परिवार में जन्मे उस नेक आदमी का नाम था खेमा भोपा। समाज को भाईचारे के मजबूत रिश्ते में जोड़े रखने की अनूठी मिसाल यहां दो इबादतगाहें उसी ने बनवाई थीं एक खुदा का घर मस्जिद, दूसरा देव नारायण का मंदिर। एक ही आंगन में एक दूसरे के समीप बनी ये दोनों इमारतें दो मासूम बाल-सखियों की तरह आपस में सिर जोड़े मानों प्यार-मुहब्बत की बतकही में लीन!

देवताओं की इस छोटी-सी बस्ती में महादेव शिव और भैरोंजी के साथ-साथ अन्य प्रतिमाएं भोपा-समाज के देवताओं की ही रही होंगी। दांतोंजी, नापाजी आदि इस कुल के देवता, गुरु अथवा पुरखे रहे होंगे। गुरु की पूजा अर्चना इस समाज में देव पूजा का ही दर्जा रखती है। गुरु से प्राप्त दीक्षा के बिना भोपा गायन में नहीं उतरते हैं। गुरुओं तथा पुरखों के प्रति देवता तुल्य श्रद्धा-सम्मान की प्रतीक ही वे प्रतिमाएं रही हैं। इस देवस्थान के निर्माता खुद खेमा की प्रतिमा भी यहां होना प्रमाणित करता है कि यह उसके बाद ही स्थापित की गई होगी। यह भी कि भोपा-बिरादरी में खेमा का स्थान उसके पुरखों व गुरुओं जैसा ही सम्मानप्रद व प्रतिष्ठित रहा है। जाहिर है इतने विशाल देवस्थान का निर्माण कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं कर सकता था।

संभव है कि खेमा के बाद भी परंपरानुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहां भोपा-समाज के गुरुओं की प्रतिमाएं स्थापित किए जाने का सिलसिला सौ-दो सौ वर्षों तक जारी रहा हो। इस देवस्थान के निर्माण-वर्ष आदि का सूचक कोई शिलालेख आज मौजूद नहीं है। लेकिन मस्जिद में ऐसा शिलालेख मौजूद रहा और थोड़ा-बहुत बचा-खुचा अब भी कहीं काल की मोटी गर्द से ढंका किसी कोने में याद दिलाने के लिए शेष हो।

मंदिर के बगल में मौजूद एक विशाल मस्जिद अपनी बनावट तथा शिल्प के लिहाज से अपनी तरह की इकलौती तथा विलक्षण मस्जिद कही जा सकती है। आज भी यह जिस रूप में मौजूद है, उसे देखकर हैरानी-सी होती है। इस मस्जिद के ऊपर छह गुंबद हैं जबकि आमतौर पर मस्जिद में अधिक से अधिक तीन गुंबदों की परंपरा रही है। गुंबदों की आकृति भी खालिस इस्लामी शिल्प-शैली से कुछ भिन्न है। गुंबदों के शिखर पर खिले कमल-पुष्पों की चौड़ी चौड़ी पंखुड़ियों-सी आकृतियों की सजावट अब भी अवशिष्ट है। मस्जिद का अपना एक अहाता और इसमें एकमात्र प्रवेश-द्वार था। इस मस्जिद में लगे दो शिलालेखों पर उत्कीर्ण लेख की मुद्रित प्रतिलिपियां मेरे संग्रह में हैं। एक शिलालेख तत्कालीन राजभाषा फारसी में और दूसरा ठेठ देहाती बोली (हिंदी) और देवनागरी लिपि में है। दोनों शिलालेख जहां इस मस्जिद की प्राचीनता के दस्तावेज हैं, वहीं हिंदू-मुस्लिम-भाईचारे के प्रमाण-पत्र भी हैं। फारसी शिलालेख, जैसाकि रिवाज था, अति संक्षिप्त है किंतु इससे बेहद महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य उजागर होते हैं।। मूल पाठ यों है:

'मस्जिदे-मुअल्ला मुरत्तब आमद दर अहम बादशाह
आलमगीर गाजी सन जुलूस 49 ब-मुताबिक सन 1114 हिजरी'

अर्थात मस्जिदे मुअल्ला नामक इस शानदार मस्जिद का निर्माण कार्य सम्राट आलमगीर (औरंगजेब) गाजी के शासन-काल में, उनके राज्याभिषेक की 49 वीं वर्षगांठ पर, तदनुसार सन् 1114 हिजरी में संपन्न हुआ। (ईसवीं सन् के मुताबिक वर्ष 1702)

टूटी-फूटी हिन्दी (देहाती बोली) और देवनागरी में उत्कीर्ण शिलालेख जहां ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का है, वहीं हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द-संबंधों को अटूट रखने का प्रतिज्ञा-पत्र भी है। शिलालेख का मूल पाठ इस प्रकार है:

श्री रामजी सहाय
संवत् 1759 जेठ सुदी 14 बीस पतवार पातसाह श्री नौरंग
साह जी, श्रीमंत जागीर दीवान कमर मुहमद कुलीजी व
मियां महमदअली जी। राजा भानगढ़ का माधव सिंह व
खेमा भरना गुवाड़ा समरा का भोपा ने मस्जिद बनाई।
खेमा भोपा का बेटा-पोता माने हीदूं मुसलमान। हींदू
मिटावे नहीं। अर जो हींदू मुसलमान। बिगाड़े तो तलाक।
दसखत महमद हयात के। बैठल जी से छपाई।

इस विवरण का एक-एक शब्द ध्यान में रखने की जरूरत है। तभी पता चलेगा कि मैं इसे 'हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द-संबंधों को अटूट रखने का प्रतिज्ञा-पत्र'

भावुकतावश नहीं कह रहा हूं। सारे तथ्य स्पष्ट करने आवश्यक हैं। इस विवरण के अनुसार-संवत् 1759 (विक्रमी) के ज्येष्ठ मास, शुक्ल पक्ष की तिथि चतुर्दशी, बृहस्पतिवार (गुरुवार अर्थात जुमेरात) को, श्रीन बादशाह (औरंगजेब का एक नाम), इस जागीर के दीवान कमर मुहम्मद कुली और मियां महमद अलीजी (संभवतः यह मेहमूद अली होगा और नाम के साथ जुड़ा 'मियां' शब्द उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का सूचक है। अजब नहीं वे किसी सूफी परंपरा से या कोई मौलाना अथवा मुफती हों) भानगढ़ का राजा माधव सिंह। खेमा भरथा जो समरा गांव का निवासी भोपा है, उसने यह मस्जिद बनवाई।

मंदिर के बगल में मौजूद एक विशाल मस्जिद अपनी बनावट तथा शिल्प के लिहाज से अपनी तरह की इकलौती तथा विलक्षण मस्जिद कही जा सकती है। आज भी यह जिस रूप में मौजूद है, उसे देखकर हैरानी-सी होती है। इस मस्जिद के ऊपर छह गुंबद हैं जबकि आमतौर पर मस्जिद में अधिक से अधिक तीन गुंबदों की परंपरा रही है।

अगला वाक्य बेहद सार्थक और खेमा के मानवीय पक्ष का पारदर्शी शीशा है। यह स्पष्ट करता है कि खेमा भोपा वही, जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अपने बेटों-पौत्रों के समान प्रिय हैं। दूसरे शब्दों में इन दोनों में वह रंचमात्र भी भेद नहीं करता। कोई भी हिन्दू इस मस्जिद को मिटाए नहीं, गिराए नहीं। ध्वस्त नहीं करे। हिन्दू या मुसलमान जो भी इसे बिगाड़े, खराब करे या इसे अपवित्र कर अपमान करे तो उसे तलाक। मुहम्मद हयात के हस्ताक्षर से युक्त यह विवरण बैठल जी ने लिखा।

यह सारा विवरण एक प्रकार की दस्तावेजी लिखतम है, जिसे पहले कागज पर लिखा गया और फिर शिलालेख के रूप में ज्यों का त्यों शिला पर उत्कीर्ण करा दिया गया। शिलालेखों में 'दस्तखत' और लिखतम लेख का उल्लेख नहीं होता है। अब जरा सोचते चलिएः

मस्जिद पर लगाए शिलालेख का प्रारंभ 'बिस्मिल्लाह' या 'अल्लाहो अकबर' जैसी इस्लामी शब्दावली से नहीं होकर 'श्रीरामजी सहाय' शब्दों से हुआ। यानी रामजी इस मस्जिद के रक्षक व सहायक हैं।

यह शिलालेख एक हिन्दू खेमा भोपा ने अपनी मर्जी से लिखकर अकेले नहीं लगा दिया। वहां मुसलमानों के प्रमुख व प्रतिष्ठित लोग (दीवान कमरमुहम्मद कुली, महमूद अली, मुहम्मद हयात आदि) मौजूद हैं। उनकी स्वीकृति से ही यह मजमून लिखा गया और मस्जिद का निर्माण हुआ।

हुकूमत उस मुगल बादशाह की है, जिसे सांप्रदायिक चश्मों ने कट्टर

हिन्दू-दुश्मन बदनाम कर आज तक घोर निंदा व घृणा का निशाना बना रखा है।

इस मजमून पर किसी को आपत्ति नहीं होती है कि मस्जिद के रक्षक व सहायक श्रीराम कब से और क्यों हो गए? अल्लाह क्यों नहीं इसके रक्षक बताए गए?

इस पर भी न तो किसी के माथे पर बल पड़ते हैं, न भृकुटियां तनती हैं, न उंगलियां उठती हैं कि पारंपरिक इस्लामी स्थापत्य से परे इस मस्जिद पर ये छह गुंबद क्यों हैं, और चलिए हैं तो इन गुंबदों के ऊपर विष्णु भगवान के प्रिय कमल-पुष्प की पंखुड़ियों ने क्यों अपनी जगह बनाई है? यह कोई हिन्दू देवस्थान नहीं, मुसलमानों के अल्लाह मियां का घर है। इसके चारों तरफ पास-पड़ौस में ये देवता क्यों विराजमान हैं। इनका ठिकाना यहां क्यों? या तो ये मूर्तियां रहें या मस्जिद।

सच्ची और खुली आंखें से देखें, निष्कपट हृदय से महसूस करें, तमाम संकीर्णताओं से ऊपर उठकर खुले दिमाग से विचार करें तो पता चलेगा कि जब दिल से दिल वास्तव में जुड़े हों, इंसानियत के अकीदत के, मुहब्बत के कुदरती रिश्ते में एक-दूसरे से बंधे हों, तभी धर्म और ईमान का वास्तविक मर्म समझ में आता है और महसूस होता है कि अल्लाह व राम उसी एक परमेश्वर के दो भाषाओं में नाम हैं। इसे समझने व इस पर अमल करने के लिए पोथे-पोथियां तथा शास्त्र बांचना अनिवार्य नहीं है। किसी गुमनाम ग्राम का एक निरक्षर गंवार भी इस मर्म को पा सकता है। वह युग ऐसा ही था। इसलिए एक दूसरे से सटे हुए दो धर्मों के उपासनालयों के निर्माण और ऐसे शिलालेख के मजमून पर भला उंगलियां कैसे उठ सकती थीं। वहां तो मुस्कानों की कलियां चटकनी ही थीं। स्वीकृति और मान्यता के फूल ही खिलने थे। आगे देखें।

खेमा भोपा द्वारा हिन्दू-मुसलमान दोनों को, तमाम कलुष और जातीय भेदभाव से परे, अपने पुत्रों-पौत्रों जैसा प्रिय परिजन मानना केवल उस अकेले की मुहब्बत का प्रमाण नहीं है। वह प्रतिनिधि स्वर है हिन्दू-मुस्लिम के भाईचारे का, सहभागिता का, एकता का, मनुष्यता का। फिर भी हर युग में अच्छे बुरे दोनों तरह के लोग और दोनों प्रकार का चिंतन होता है। यह नितांत असंभव नहीं था कि देवस्थान के इतने निकट एक बड़ी-सी मस्जिद की मौजूदगी आगे चलकर किसी संकीर्ण हिन्दू मानस को सहन नहीं होती। अतः स्पष्ट कर दिया गया कि इसे हिन्दू नष्ट न करे, मिटाए नहीं। यह भी संभव था कि आगे किसी समय कठमुल्ला किस्म के मुस्लिम-दिल को मस्जिद के बगल में हिन्दू देवताओं की मौजूदगी मस्जिद की पाकीजगी को नष्ट करती प्रतीत हो तो वह मस्जिद को ही अस्वीकार कर दे। इसलिए यह साफ-साफ जता देना जरूरी हो गया कि हिन्दू हो गया कि हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी इसे विकृत करे, बिगाड़े, अपवित्र करे तो तलाक!

आज 'तलाक' शब्द विवाह-विच्छेद के अर्थ में सर्वविदित है। यहां तलाक शब्द का प्रयोग विच्छेद के अर्थ में बहुत सोच समझकर किया गया है। लेख का उक्त वाक्य स्पष्ट चेतावनी है कि हिन्दू हो या मुसलमान जो भी इस मस्जिद का अपमान करेगा उसका तलाक हो जाएगा अर्थात समाज से, बिरादरी से उसका संबंध विच्छेद हो जाएगा। उस 'अपराधी' को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। उसका हुक्का-पानी बंद कर उसे बिरादरी से बाहर कर दिया जाएगा।

यह नितांत असंभव नहीं था कि देवस्थान के इतने निकट एक बड़ी-सी मस्जिद की मौजूदगी आगे चलकर किसी संकीर्ण हिन्दू मानस को सहन नहीं होती। अतः स्पष्ट कर दिया गया कि इसे हिन्दू नष्ट न करे, मिटाए नहीं। यह भी संभव था कि आगे किसी समय कठमुल्ला किस्म के मुस्लिम-दिल को मस्जिद के बगल में हिन्दू देवताओं की मौजूदगी, मस्जिद की पाकीजगी को नष्ट करती प्रतीत हो तो वह मस्जिद को ही अस्वीकार कर दे। इसलिए यह साफ-साफ जता देना जरूरी हो गया कि हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी इसे विकृत करे, बिगाड़े, अपवित्र करे तो तलाक!

तीन सौ वर्ष पूर्व की बात छोड़ें। हमारे बचपन में किसी जघन्य उपराध या गंभीर जुर्म की सजा के रूप में ही बिरादरी-बाहर करने का लोक-विधान था। यह एक ऐसी सजा, ऐसा सामाजिक दंड था, जो किसी लानत की तरह पीढ़ियों तक चिपका रहता था। फटकार की तरह बरसता था। जाति-बाहर व्यक्ति ने यदि विधिवत अपना अपराध क्षम नहीं कराया, पाप नहीं धो डाला, तो सामाजिक जीवन के तमाम दरवाजे उसके लिए बंद होकर रहना-सहना दूभर हो जाता था। उस सजा का प्रभाव कानून के मेटे पोथों की दंड-संहिताओं की धाराओं से कहीं गहरा तथा दूरगामी होता था। मस्जिद को विकृत करने वाले के लिए तत्कालीन दूरदर्शी समाज यही सजा निर्धारित करता है तलाक! हुक्का-पानी बंद। इस दंड के आगे क्षति-पूर्ति हर्जाने अथवा जुर्माने जैसी अदालती व कानूनी सजाएं अपना-सा मुंह लेकर रह जाती हैं।

तीन सौ वर्ष लंबी काल-अवधि में सर्दी, गर्मी, वर्षा आंधी-तूफान आदि प्राकृतिक थपेड़ों की मार सहती, जमाने की उपेक्षा की शिकार ये दोनों इबादतगाहें अभी मिट नहीं गईं, शान से सीना ताने खड़ी हैं। लगभग एक सौ फुट लंबे और इतने ही चौड़े वर्गाकार आंगन में एक ओर छह गुंबदों वाली मस्जिद है। उसके बायीं ओर वाले बाजू में मढ़ीनुमा छहः मंदिर एक कतार में हैं। इनके सामने आंगन में एक बड़ी छतरी है। इसमें लगभग छह फीट ऊंची भैरोंजी की विशाल प्रतिमा स्थापित है। अच्छी हालत और सिंदूर आदि लेपन से पता चलता है कि

यह ग्रामवासियों द्वारा सेवित पूजित है। सभी मंदिर तथा मस्जिद एक ही प्रकार के पत्थर चूने से निर्मित हैं। यदि समय रहते इनकी ओर समुचित ध्यान देकर विधिवत जीर्णोद्धार नहीं कराया गया, खास तौर से उपेक्षा की शिकार मस्जिद का तो अपने ढंग के ये बेमिसाल इबादतखाने मिट्टी के ढेर-रूप में बदले हुए रह जाएंगे। धर्म और धर्म स्थान का वास्तविक अर्थ समझाने वाली ये प्रेरणास्पद निशानियां काल का कलेवा बन चुकेंगी।

इन उपासनालयों को भर आंख निहारिए। मंदिर-मस्जिद की सदियों से समीपता देखिए और फिर आज के धार्मिक भेदभाव, जातिगत द्वेष तथा सांप्रदायिक वैमनस्य पर गौर कीजिए तो शर्म से डूब मरने को जी चाहेगा। तमाम मानवीय रिश्तों को तिलांजलि देते चले जाते हम सुशिक्षित, सुसंस्कृत, सुसभ्य लोग हैं जो आपसी द्वेष, दुर्भावना, सांप्रदायिक उन्माद से लथपथ हैं। फिर भी तरक्कीयाफ्ता कहलाते हैं।

हमारे ही यहां कभी एक छोटे से ग्राम का निवासी एक अनपढ़ लोक-गायक उठता है। हिन्दू-मुसलमान दोनों उसकी आंखों के तारे हैं। दोनों प्यारों के लिए वह निपट देहाती, एक दूसरे के समीप बतियाते हुए पूजाघर बनवाता है। यह जता जाता है कि जिसने भी इन्हें बिगाड़ने की चेष्टा की, खराब किया तो उसे धर्म से बाहर माना जाएगा। समाज-बहिष्कृत, हुक्का-पानी बंद हो जाएगा। राम-रहीम का वह निरक्षर सच्चा भक्त मस्जिद के मस्तक पर, भाग्य-लेख रूप में लिखवा जाता है 'श्री राम जी सहाय'। कहां का कानून, कैसा विधान? अल्लाह के घर की रक्षा श्री राम जी नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? ये निशानियां अपनी मौन भाषा में तीन सौ वर्षों से यही संदेश देती चली आ रही हैं कि हिन्दू-मुसलमान से पहले सब इंसान हैं। मानव-धर्म सर्वोपरि है। पर हम ऐसे उदाहरण अपनी आंखों से दूर रखते हैं। ऐसे संदेश सुनते ही नहीं हैं। हमें तो धर्म की दुकानें चलाने और मंदिर-मस्जिद के झूठे-झगड़ों की आग फैलाने में ही रस है। कहां के इन्सान, कैसा इन्सानी मजहब!

अंबाला के एक छोटे-से कमरे में बैठकर
स्वामी वाहिद काजमी पूरी दुनिया के विषयों पर बहुत अनुशासित ढंग से
कलम चलाते हैं और अपने पोस्टकार्डों के माध्यम से सबको जोड़े रखते हैं।

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

कुएं में भांग

सुधांशु भूषण

सच कहें तो यह पुस्तक चुराए गए समय में लिखी गई है। इसके अलावा हमारे पास कोई रास्ता भी नहीं था। दुनिया के असंख्य लोगों की तरह नौकरी हमारी भी मजबूरी है; और उसका अर्थ हमें लगा कि जीवन का बड़ा शायद सबसे उपयोगी हिस्सा अपने ऊपर बैठे लोगों की कतार को समर्पित कर देना। दफ्तर में रोज आठ घंटे काम करने के बाद मानसिक और शारीरिक थकान ऐसा पंगु बना देती है कि उसके बाद अपनी मर्जी का कोई काम हम शायद ही उठा पाते हैं।

हमें भलीभांति यह पता है कि 'अपनी मर्जी' का काम हम कर सकें ऐसी नौकरी कोई हमें देने से रहा, वह भी जब नौकरी के प्रति हमारा नजरिया इस कदर असहिष्णु, कटु और विद्रोही रहे। कहने को हम शानदार पद पर हैं। वेतन, सुख-सुविधा, तरक्की सब ठीकठाक है, लेकिन आज के तमाम लोगों की तरह पेशा हमें न आत्मसंतोष देता है और न मानसिक चुनौती। मन को अजब ऊब घेरे रहती है, सदा।

काम में दिमाग लगाने की गुंजाइश भी कम है। हमें क्या करना है, कैसे करना है, वह सब पहले से तय है। हमें सधे तरीके से रोज वही काम करना और करते रहना है उसके बाहर जाने अथवा उन सीमाओं को लांघने की न हमें अनुमति है, न अधिकारियों को। ऐसे में हमें लगा कि अगर अपने आदर्शों और सपनों के अनुरूप अपने संसार को संवारने के लिए हमने खुद को स्वतंत्र नहीं किया तो हम अपनी ही नजर में गिर जाएंगे। तब जिंदगी पहाड़-सी लगने लगेगी। भीतर से कोई बात सतत धकेल रही थी, मन ना-नुच कर रहा था, यथा स्थिति को स्वीकार कर लेना पागलपन लग रहा था। इस मनःस्थिति में हमने काम से थोड़ा-थोड़ा समय 'चुराना' शुरू किया। यह पुस्तक उसी 'चोरी' का परिणाम है!

इसे संयोग ही मानना चाहिए कि यह किताब भी बाजार-व्यवस्था और उसी से पैदा होने वाली व्यग्रता व आदमी की मजबूरी, यानी व्यवस्थाजनित पागलपन के बारे में है। क्यों न हो? हम भुक्तभोगी जो हैं। हम जिस पीड़ा में हैं, वह निश्चय ही दूसरों को भी मथ रही है। हमने अपने शानदार दफ्तर में ही बहुत से लोगों को नाखुश पाया काम को लेकर भी और जिंदगी को लेकर भी। अनेक ने कहा कि जीवन का बड़ा भाग नौकरी करने, पैसे जुटाने, उसी से खर्च करने और जीवन कंपनी को समर्पित करने के बाद हमें कुछ भी हाथ नहीं लगा है।

निश्चय ही, 'अपना पेट पालने के अलावा जिंदगी में कुछ नहीं किया' यह मलाल हमारे मन को भी सालेगा। जीवंत मन ऐसे पछतावे से बच नहीं सकता। दूसरी तरफ, ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जिन्हें कोई पछतावा नहीं है, जो दावा करते हैं कि वे बड़े खुश हैं, उन्होंने जो किया, मर्जी से किया। पर उन्हें भी जरा कुरेदो तो उनके चेहरे से खुशी का वह सुंदर मुखौटा उतर जाता है। हमारे अनुभव में इन मुखौटे वाले लोगों की हालत ज्यादा दयनीय है। उन बेचारों को पता नहीं कि मन की परतों में कैसी उथल-पुथल मची हुई है! दासत्वपूर्ण व्यवस्था में दूसरों को समर्पित मन मुदित भला कैसे रह सकता है? नौकरी-पेशे का अर्थ है कि एक ऐसी सत्ता के अधीन होना जो हमारे हित की नहीं सोचती, और यह स्थिति यदि आनंददायी है तो उसे पागलपन ही कहना होगा।

दौलत पैदा करने वाली आधुनिक अर्थव्यवस्था 'सफल' बताई जाती है। यह सफलता घातक हथियारों पर बेतहाशा हो रहे खर्च पर टिकी है। सिर्फ अटकल लगाई जा सकती है कि हथियारों की बजाय रकम अगर मकान, स्कूल, अस्पताल जैसे कल्याणकारी कामों पर खर्च हो तो दुनिया का रूप क्या हो जाएगा।

नौकरी-पेशे में न स्वतंत्र चिंतन की छूट है, न अपनी 'आदमीयत' को जीने की। विद्वानों के अनुसार 'आदमीयत' अपनी भगवत्ता, श्री, गरिमा, इयत्ता, शख्सियत के अनुभव को कहते हैं। 'गरिमा' आदमी की एकमात्र आत्मिक पूंजी है; परंतु बाजार और उस पर आधारित आधुनिक व्यवस्था में उसकी कदम-कदम पर अवमानना होती है। मन से थके-हारे और ऊबे आदमी की हालत साधारण आंखों से चूकी रह जाएगी। लोग अपनी व्यक्तिगत खूबियों, हुनर और लगन के कारण भीतरी उथल-पुथल आसानी से छिपा ले जाते हैं। मगर ऊब के लक्षण छिपे नहीं रह पाते। अचेतन मन सतत व्यग्र रहता है और उसकी चिड़चिड़ाहट पारिवारिक व सामाजिक संबंधों पर भी दिखाई देने लगती है।

इस बात को न उगलते बने, न निगलते। पर ताजा आंकड़ों से पक्का इशारा मिलता है कि सारी दुनिया बावली हो रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, जापान जैसे धनी व उन्नत देशों में ही नहीं, भारत, चीन, ब्राजील आदि विकसशील देशों में भी पागलपन तेजी से बढ़ रहा है।

हम गली कूचों में गाहे-बगाहे दिखने वाले उन लोगों की बात नहीं कर रहे जिन्हें 'पागल' पहचानना कठिन नहीं, हम तो उन बहुसंख्यक लोगों की बात कर रहे हैं, जिन्हें अपने पागल नहीं होने का भ्रम है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दुनिया में जो कुछ चल रहा है हम, आप, नेता, धर्मगुरु, पंडे-पुजारी, वैज्ञानिक, पत्रकार, व्यापारी, डॉक्टर, अफसर, उद्योगपति, मास्टर यानी, निन्यानबे के फेर में पड़े सभी लोग पूरे पागलपन के सांचे में भले न फिट हों, सबके शेखचिल्लीपन साफ हैं।

पागलपन की 'महामारी' की बात अटपटी लग सकती है, पर अमेरिकी प्रशासन के अनुसार देश में मानसिक बीमारी 'अनियंत्रित' हो गई है 25 प्रतिशत नागरिक सीधे तौर पर मनोरोगी हैं, पचास प्रतिशत से ज्यादा के बारे में कहा जा सकता है कि वे इस रोग की कगार पर हैं, बीस प्रतिशत बच्चों में मानसिक रोगों के लक्षण साफ देखे जा सकते हैं।

प्रमाण? पिछले सौ सवा सौ सालों के दौरान दुनिया ने अकूत दौलत पैदा की, लेकिन छोटे-बड़े हजारों युद्धों में असंख्य बेगुनाहों की जान भी ली है इसने। सारे युद्ध आदमी की आन, बान और शान के लिए लड़े गए हैं। दुनिया का सत्ता-समीकरण बार-बार बदला, दुश्मन मुंह लगे दोस्त बने, लेकिन सबके सर पर एटमी तलवार अब भी लटक रही है। अब तो हर देश में आए दिन बम-गोले चलते हैं। आर्थिक दिशा भी बेढब है। संपन्न देशों में अच्छी फसल होती है तो दाम गिरने के भय से अन्न नष्ट कर दिया जाता है। भले ही दुनिया में करोड़ों लोग भूख से बिलबिलाते रहें। अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन समेत सभी देशों में संसाधनों की बर्बादी छिपी नहीं है। सभी जगह लोग शिकायत करते हैं कि राजनीतिक वर्ग नागरिकों से पूरा कटा हुआ है।

दौलत पैदा करने वाली आधुनिक अर्थव्यवस्था 'सफल' बताई जाती है। यह सफलता घातक हथियारों पर बेतहाशा हो रहे रकम खर्च पर टिकी है। सिर्फ अटकल लगाई जा सकती है कि हथियारों की बजाय रकम अगर मकान, स्कूल, अस्पताल जैसे कल्याणकारी कामों पर खर्च हो तो दुनिया का रूप क्या हो जाएगा।

धनी माने गए देशों में साक्षरता 90 प्रतिशत से ज्यादा है। रेडियो, टीवी, पत्र-पत्रिकाएं, फिल्म, खेल-कूद, इंटरनेट वगैरह सभी को सुलभ हैं, लेकिन स्वस्थ-मनोरंजन, बढ़िया साहित्य की बजाय हर जगह नागरिक मुनाफे पर आधारित मीडिया से दो-चार है। सस्ता, फूहड़ मनोरंजन और (प्रभाष जोशी के शब्दों में) 'लुगदी-पत्रकारिता' हम सबकी आंखों के सामने बच्चों के दिमाग में जहर भर रही है, लेकिन हम इस अनैतिकता पर दांत नहीं पीस सकते। 'सर्वोदय' की बात उठाना माने बर्रे का छत्ता छेड़ना!

लेकिन पागलपन के लक्षण साफ हैं और हर कहीं हैं। कितना भी बचें, तनातनी, कलह, भ्रष्टाचार, आबोहवा, ऊब, अकाल, हिंसा, अभाव, बेगानापन, प्रकृति-दोहन, व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन में चालबाजी, एटम बम, भेदभाव, गृहयुद्ध, बेरुखी, मारकाट, आतंक, मानवाधिकार-हनन यानी 'जीवन' की दृष्टि से घातक ये विध्वंसक प्रवृत्तियां आंखों से छिपी नहीं रह सकतीं। हमारे निजी जीवन में, बात-व्यवहार में बेईमानी, झगड़ालूपन, संवेदनहीनता, असहिष्णुता, स्वार्थीपन, लालच, चालबाजी, अर्थात 'ध्वंस' के लक्षण देखकर कोई हमें पागल कहने में तनिक नहीं हिचकिचाएगा, बल्कि हमारे इनकार करने को पागलपन का पुख्ता लक्षण समझा जाएगा। अगर हम 'पागल' ठहराए जा सकते हैं तो फिर भला इन्हीं लक्षणों वाला 'समाज' क्या पागल नहीं हो सकता?

पागलपन की 'महामारी' की बात अटपटी लग सकती है, पर अमेरिकी प्रशासन के अनुसार देश में मानसिक बीमारी 'अनियंत्रित' हो गई है 25 प्रतिशत नागरिक सीधे तौर पर मनोरोगी हैं, पचास प्रतिशत से ज्यादा के बारे में कहा जा सकता है कि वे इस रोग की कगार पर हैं, बीस प्रतिशत बच्चों में मानसिक रोगों के लक्षण साफ देखे जा सकते हैं। चालीस प्रतिशत वयस्क आबादी व्यग्रता, उन्माद, अनिद्रा के लिए दवाएं लेती है, बड़े-बुजुर्गों और किशोर-किशोरियों में आत्महत्या की दर सर्वाधिक है, आर्थिक या वैचारिक तनाव के कारण एक तिहाई परिवारों पर टूटने का खतरा है। पचास प्रतिशत स्त्रियां घरेलू मारपीट की शिकार बनती हैं। यानी लगभग साठ प्रतिशत आबादी व्यवस्था में 'फिट' नहीं हो रही है। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, स्विटजरलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान आदि भी ज्यादा पीछे नहीं।

दुनिया के ताकतवर, संपन्न देशों के इन भयावह आंकड़ों से यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसा क्यों हो रहा है? अमेरिका के सबसे बड़े स्वास्थ्य विशेषज्ञ, सर्जन-जनरल की रिपोर्ट सिर्फ यह गोलमोल बात कह कर चुप हो गई कि '...जैविक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों से मानसिक संतुलन प्रभावित होता है...!' जीवन का कौन-सा हिस्सा भला 'सामाजिक, जैविक और

सांस्कृतिक' कारकों से बचा रह सकता है? क्या अमेरिका के सर्वोच्च स्वास्थ्य विशेषज्ञ महोदय यह कह रहे हैं कि इस देश में जन्म लेना माने मानसिक रूप से रुग्ण होना?

इलाज को लेकर भी यह रिपोर्ट कम भ्रामक नहीं। इसी दावे को लें कि मानसिक व्याधियां अब लाइलाज नहीं। प्रश्न उठता है, अगर पक्की वजह ही पता नहीं तो इलाज किसका? कैसे? कुछ दशकों तक प्रतिबंधित रहने के बाद दिमाग को बिजली के झटके देना फिर बड़े पैमाने पर शुरू हो गया है। मनोचिकित्सक इसकी आधुनिक पद्धति को 'सुरक्षित' बताते नहीं अघाते, लेकिन इससे तौबा कर चुके पूर्व डॉक्टरों के अंतरराष्ट्रीय संगठन 'कमेटी फार ट्रूथ इन साइकिएट्री' के इस आरोप में दम है कि बिजली के झटके से स्मृति लोप जैसे अनचाहे गंभीर और स्थायी नुकसान आम बातें हैं। इस संगठन का यह आरोप भी कम चिंताजनक नहीं है कि अमेरिकी प्रशासन ने जिन उन्नीस विशेषज्ञों का हवाला दिया है, उनमें पंद्रह के आर्थिक हित बिजली के झटके देने वाली इन मशीनों को बनाने और बेचने वाली कंपनियों से सीधे जुड़ते हैं।

अपनी आंतरिक सत्ता का अनुभव नहीं कर पाने से हम 'बाहरी' आलंबन खोजने लगते हैं। बाहरी आलंबन पद, पैसा, मकान, वस्तु, देश, कुल, जाति, धर्म, संप्रदाय आदि कुछ भी हो सकता है। बाहरी आलंबन का सिर्फ एक अर्थ है कि मन खुद को 'सीमित' महसूस कर रहा है। स्वयं को कमजोर समझने वाला मन ढुलमुल रहेगा और उस कारण हमारा दैनंदिन व्यवहार स्वेच्छा से संचालित नहीं हो पाएगा।

इस पृष्ठभूमि में पागलपन के उन पक्षों पर बरबस ध्यान जाता है जिनके बारे में अमेरिका, ब्रिटेन के विशेषज्ञ अमूमन मौन रहते हैं। यह देखना कठिन नहीं कि किसी वजह से या किसी बात को लेकर लोगों के मन में बड़ी उथल-पुथल है। अमेरिका, ब्रिटेन की राह पर चल पड़े भारत, रूस, बाजील, चीन जैसे दूसरे देशों के आंकड़े भी अगर जोड़ें तो संदेह पक्का होता है कि इस विश्वव्यापी महामारी की जड़ें 'व्यवस्था' में ही होनी चाहिए।

क्या पागलपन व्यवस्थाजन्य भी हो सकता है? परंतु, इस सघन विषय में उतरने से पहले आइए कुछ तथ्यों पर नजर डालें:

अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, आस्ट्रेलिया या स्विट्जरलैंड जैसे लोकतांत्रिक, ताकतवर, विकसित और साधन-संपन्न देशों के राजनीतिक, आर्थिक संगठन का लक्ष्य जीवन की संपन्नता, अर्थवत्ता, सुख-सुविधा, सामाजिक-बराबरी, अमन-अमान बढ़ाना आदि बताया जाता है। मगर उन देशों

में अपराध, शराबखोरी, जुआखोरी, तलाक, आत्महत्या अथवा सीधे-सीधे पागलपन के बढ़ते आंकड़ों से प्रश्न स्वाभाविक है कि इन लक्ष्यों के निकट पहुंच गए देशों में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक उलझनों की वजह क्या हो सकती है? कहीं हमसे कोई बुनियादी भूल तो नहीं हो रही है? कहीं ऐसा तो नहीं कि जीवन की सार्थकता, अर्थवत्ता, संपन्नता हम गलत दिशा में खोज रहे हैं? क्या यह संभव नहीं कि आदमी का मन कुछ और भी खोजता है जो वर्तमान व्यवस्था में सुलभ नहीं हो पा रहा है?

पागलपन के बढ़ते आंकड़ों से प्रश्न स्वाभाविक है कि इन लक्ष्यों के निकट पहुंच गए देशों में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक उलझनों की वजह क्या हो सकती है? कहीं हमसे कोई बुनियादी भूल तो नहीं हो रही है? कहीं ऐसा तो नहीं कि जीवन की अर्थवत्ता, संपन्नता हम गलत दिशा में खोज रहे हैं? क्या यह संभव नहीं कि आदमी का मन कुछ और भी खोजता है जो वर्तमान व्यवस्था में सुलभ नहीं हो पा रहा है?

धन, दौलत, पद, प्रतिष्ठा आदि को सुख और आनंद का सूत्र समझने का एक ही अर्थ है कि मन अपनी गरिमा व प्रतिष्ठा 'बाहरी' वस्तुओं में स्थापित मान रहा है; मन अपनी 'सत्ता' के सिर्फ एक पक्ष का दास है। परंतु अपने प्रति ऐसा आंशिक समर्पण मन की दुर्बलता ही बताता है। और इस प्रकार हमारा संसार दो टुकड़ों में बंट जाता है वास्तविक संसार और आंतरिक संसार।

अपनी आंतरिक सत्ता का अनुभव नहीं कर पाने से हम 'बाहरी' आलंबन खोजने लगते हैं, बाहरी आलंबन, पद, पैसा, मकान, वस्तु, देश, कुल, जाति, धर्म, संप्रदाय आदि कुछ भी हो सकता है। बाहरी आलंबन का सिर्फ एक अर्थ है कि मन खुद को 'सीमित' महसूस कर रहा है। स्वयं को कमजोर समझने वाला मन ढुलमुल रहेगा और उस कारण हमारा दैनंदिन व्यवहार स्वेच्छा से संचालित नहीं हो पाएगा। उस स्थिति में हम हवा के साथ बहने लगेंगे यद्यपि हम समझेंगे यही कि हम अपनी 'मर्जी के मालिक' हैं, लेकिन यथार्थ में हम 'स्वयं' से कट चुके हैं। हम अपने साथ अजनबी बने रहते हैं और दूसरों को भी उनके वास्तविक रूप में अनुभव नहीं कर पाते। हम यथार्थ को टेढ़ा-मेढ़ा समझने लगते हैं। पूरे पागल व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक परिभाषा यही है कि वह अलग-थलग, अपनी दुनिया में जी रहा है। आंतरिक सत्ता से कटना, काल्पनिक संसार में जीना, यही तो है पागलपन।

आज कामकाज, कार्यालय, राजनीति, धर्म-दर्शन, फैशन, उपभोग यानी जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसा शेखचिल्लीपन देखा जा सकता है। कुछ उदाहरण लें।

नौकरी-पेशा वर्ग से शुरू करें। कारखानों, कार्यालयों में रोज वही चर्या रहने से काम उबाऊ लगने लगे, यह स्वाभाविक है। व्यापारिक प्रतिष्ठानों के कार्यालयों अथवा कारखानों में स्वतंत्र चिंतन की न कोई गुंजाइश रहती है, न अफसर और नौकरशाहों का वर्ग वह चाहता ही है। बल्कि यह कहना ठीक होगा कि स्वतंत्र चिंतन को रोकने की हर संभव कोशिश होती है। ऐसा 'नियंत्रण' बाजार की अनिवार्यता है, पर इसके मानसिक प्रभाव? जब रचनात्मकता, पहल, उत्साह, लगन आदि संस्थागत तौर पर नकारे जाएंगे तब कर्मचारी का मन करो या मरो की नीति अपनाने को मजबूर होगा या तो चक्की का पुर्जा बनो, नहीं तो बाहर हो जाओ। जो लोग यह दोनों नहीं कर पाते, उनके मन में अलगाव, अकेलापन, ऊब, उदासी, घातक-प्रवृत्तियां, डिप्रेशन आदि लक्षण स्वाभाविक हैं।

दूसरी तरफ मैनेजर, व्यवस्थापक वर्ग भी इसी समस्या से दो-चार है। उत्पाद से इन वर्गों का भी कोई वास्ता नहीं रहता यह हम देख चुके हैं। उत्पाद समाज के लिए उपयोगी है, उनुपयोगी है, इसकी उन्हें परवाह नहीं रहती। उनका काम सिर्फ यह है कि वे लागत घटाएं व अधिक से अधिक मुनाफा कमा कर दें। यह वर्ग भी मातहत कर्मचारियों की तरह मेहनत 'अपने' मुनाफे के लिए नहीं करता। उन्हें भी अदृष्य मालिकों का मुनाफा बढ़ाने के लिए अपनी 'आदमीयत' खोनी पड़ती है। उन्हें स्पर्धी व्यवसायियों, मजदूर संगठनों और सरकारी मशीनरी के साथ सामंजस्य बैठाना पड़ता है। हर स्तर पर उन्हें अलग तौर-तरीका अपनाने की चुनौती रहेगी कहीं उन्हें बनावटी हंसी दिखानी पड़ेगी, कहीं बनावटी पुचकार। इस असहजता का असर सब पर पड़ता है ऐसे विचित्र उथल-पुथल के वातावरण में।

कभी भीतरी सुख व शांति की खोज 'व्यक्तिगत' प्रयासों तक सीमित रही थी, परंतु दूसरे महायुद्ध के बाद इन प्रवृत्तियों का ज्वार दिखाई देता है। शांति, सुख, आनंद की खोज देख कर चतुर व्यापारियों ने मौके का खूब लाभ उठाया। अनेक ने आत्मज्ञान, आनंद, सुख, मोक्ष आदि के सस्ते नुस्खे बेचने शुरू किए। आज यूरोप, अमेरिका में ध्यान, योग, ताई-ची, जेन आदि के नाम पर शिविरों का जाल दिखता है, जिनमें लोग बड़ी फीस चुका कर भाग लेते हैं। हमने ऐसे कुछ शिविरों में पाया है कि उन्हें 'एक आने में बारह मजा' से ज्यादा नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें भाग लेने वाले शायद ही किसी व्यक्ति को व्यवस्थाजन्य उलझनों से लड़ने के गुर हाथ लग पाएं।

इन पद्धतियों के गुण-दोष, कमी की चर्चा जरूरी नहीं है। अगर मन में परिवर्तन नहीं हुआ तो ऐसे उपायों से केवल क्षणिक राहत मिल पाएगी। मन की दिशा-परिवर्तन के अभाव में किसी प्रकार का आनंद मात्र छलावा रहेगा। चिंता

इस बात पर नहीं कि मंडी की व्यवस्था के कारण आनंद, आत्मज्ञान और अध्यात्म भी 'बिकाऊ' बन गए हैं। चिंता इस बात पर होती है कि इन विषयों के व्यापारीकरण पर कहीं, कोई आपत्ति नहीं उठाई जाती और अब इन्हें रहन-सहन का स्वाभाविक ही नहीं, श्रेष्ठ हिस्सा मान लिया गया है। क्या जीवन के हर पहलू में व्यापारी प्रवृत्तियों का दखल जरूरी है? क्या वह उचित है? धर्म, दर्शन में बड़बोलेपन, सतहीपन, आत्म-प्रचार आदि से समाज की संभवतः सबसे निश्छल बची हुई संस्था के चरित्र के बारे में क्या सूचना मिलती है?

धर्म-कर्म, अध्यात्म आदि में व्यभिचार का उद्‌गम इस बात में है कि व्यापारिक मनोवृत्तियां और चालढाल जीवन के अंतरंग हिस्सों में प्रवेश कर चुकी हैं। इन उपायों को 'बेचने' वाली विज्ञापन पद्धतियों पर नजर डालें तो चालबाजी साफ दिखाई पड़ेगी। ये सारी चालबाजियां मन ही मन भांपते हुए आदमी का दिलो-दिमाग नए प्रकार के भ्रम में पड़ता है। दूसरे शब्दों में, भ्रमों से छुटकारा पाने की बजाय आधुनिक धर्म-दर्शन के कुचक्र में फंसा मन नए भ्रम में पड़ जाता है।

शांति, सुख, आनंद की खोज देख कर चतुर व्यापारियों ने मौके का खूब लाभ उठाया। अनेक ने आत्मज्ञान, आनंद, सुख, मोक्ष आदि के सस्ते नुस्खे बेचने शुरू किए। आज यूरोप, अमेरिका में ध्यान, योग, ताई-ची, जेन आदि के नाम पर शिविरों का जाल दिखता है जिनमें लोग बड़ी फीस चुका कर भाग लेते हैं। हमने ऐसे कुछ शिविरों में पाया कि उन्हें 'एक आने में बारह मजा' से ज्यादा नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें भाग लेने वाले शायद ही किसी व्यक्ति को व्यवस्थाजन्य उलझनों से लड़ने के गुर हाथ लग पाएं।

जीवन में अर्थवत्ता, गुणवत्ता की भूख के कारण लोग इन दिशाओं में प्रवृत्त होते हैं, वे रोचक, लुभावने झांसे में पड़ जाते हैं। संभव है कि उन्हें क्षणिक अनुभव भी होता हो कि मंजिल मिल गई, लेकिन सस्ते उपायों से आत्मिक सुख, आनंद कभी नहीं मिल सकता। निस्संदेह लोगों का शीघ्र मोहभंग होता होगा और तब उन्हें और भी निराशा, कुंठा आ घेरती होगी। यह सोचना ही गलत है कि बिना आंतरिक परिवर्तन मन का आनंद मिल सकेगा। लेकिन धर्म-कर्म के व्यापारी हमें उसका ही भुलावा देते हैं।

आंखों पर पर्दा रहेगा तो कोई भी यज्ञ, तपस्या लाभकारी और शांतिदायक नहीं होगी। पद्धतियों के गुण-दोष की बात नहीं है। बात यह है कि धर्म, दर्शन, आश्रम, गुरु, पूजा-पाठ, मंदिर-मस्जिद से हमारी आंखों पर पर्दे पड़े रह जाते हैं, अथवा हटते हैं। गीता, धम्मपद, तोरा, कुरान, बाइबिल सभी ठीक हैं, यदि उनसे आंखों का धुंधलका मिट जाए, वरना

उनका कोई महत्व नहीं। ये महान पुस्तकें हमें सस्ते उपाय नहीं सिखातीं।

अनेक लोग कहते मिल जाएंगे कि आज के इस नए जमाने में नेकनीयती, ईमानदारी, सदाचार आदि मूर्खता है। कोई भला काम करता भी है तो हमें विश्वास नहीं होता और हम संदेह करते हैं कि अमुक अच्छा काम क्यों कर रहा है? कोई निहित स्वार्थ तो नहीं है? इन लोगों के मन में क्या चल रहा है कि उन्हें यह धारणा बनानी पड़ी? अहिंसा, प्रेम, ईमानदारी आदि को बेमानी समझने वालों का आत्मविश्वास उनके निजी अनुभवों के कारण डांवाडोल दिखेगा। वास्तव में ये भोले भाले लोग थे जिन्हें ठगी का शिकार होने पर अपने मूल विचारों पर शंका होने लगी। इससे अनेक मन पर ऐसी चोट लगी कि निराशा के अलावा उन्हें अब कुछ सूझता ही नहीं। दुर्भाग्य से ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है। इसलिए, मन के आनंद की पहली आवश्यकता है कि श्रद्धा, विश्वास और हिम्मत टूटने नहीं दी जाए। न अपनी, न दूसरे की।

सौभाग्य की बात है कि दुनिया में अब भी बहुत से ऐसे लोग हैं, जिन्हें ऐसी व्यवस्थाजन्य कुरूपताएं, अस्वाभाविकताएं, असहजताएं अपनी लपेट में नहीं ले पातीं। वे किसी से शिकायत नहीं करते, चुपचाप रुचिकर कामों में लगे रहते हैं संगीत, ललित कलाएं सीखते हैं, बागवानी करते हैं, पाकशास्त्र सीखते हैं, दूसरों की मदद करते हैं और ऐसे अपना 'विस्तार' कर बेगानापन खत्म करते हैं।

वर्षों तक हिन्दी पत्रकारिता से जुड़े श्री सुधांशु भूषण अमेरिका में मनोचिकित्सक की भूमिका निभाते हुए अपने को अनेक तरह की सामाजिक गतिविधियों से जोड़े हुए हैं। कुछ समय तक वहां उन्होंने भारतीय समुदाय को केन्द्र में रख 'इंडियन ओपिनियन' नामक एक अखबार भी निकाला था। प्रस्तुत लेख उनकी अप्रकाशित पुस्तक 'तहं तहं परमानंद' का एक संपादित अंश है।

*

टिप्पणियाँ

अहिंसा की बड़ी लकीर

महान नद ब्रह्मपुत्र की गोद में बसे असम प्रांत की राजधानी गुवाहाटी में गांधी-परिवार का ऐसा महामिलन पहली बार ही आयोजित हुआ है। इस 43 वें सर्वोदय समाज सम्मेलन में सारे देश से कोई 4 हजार गांधीजन 21 से 23 फरवरी के दौरान मिलकर बैठे और इस प्रश्न को सुलझाते रहे कि हिंसा-प्रतिहिंसा के दुष्चक्र से मुक्त एक क्रांतिकारी समाज के ताने-बाने कैसे बुने जाएं। तीन दिनों की इस चर्चा में चिंताएं भी उभरीं, अपनी शक्ति और विकल्पों का विचार भी हुआ और यह भी आंका जा सका कि आशा की किरणें कहां-कहां से फूटती हैं और हम उन्हें कैसे संयोजित कर सकते हैं।

सर्वोदय समाज के सामने यह स्थिति स्पष्ट हुई है कि उधार के संसाधनों, उधार की सोच और उधार के समीकरणों से देश बनाने व चलाने के मामले में देश का संपूर्ण राजनीतिक नेतृत्व एक समान ही बोदा व बंजर है। पिछले वर्षों में हम आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में जिन विनाशकारी नीतियों की आशंका कर रहे थे, वे सब अब एकदम खुलकर सामने आ गई हैं। यह साकार विनाश, कल्पना से भी ज्यादा खतरनाक व अमानवीय है। यह भी अब निर्विवाद हो गया है कि जनहित के नाम पर बुलंद घोषणाओं के साथ शुरू होने वाली सारी ही परियोजनाएं अंततः नर्मदा घाटी का या सिंगूर का या महुआ (गुजरात) का विनाश ही करेंगी, क्योंकि जल-जंगल-जमीन जैसे बुनियादी संसाधनों की मालिकी के बारे में कोई लोकतांत्रिक लक्ष्मण-रेखा अब तक निर्धारित नहीं हुई है। इस रेखा के निर्धारण की लड़ाई ही देश के भावी का निर्धारण करेगी।

हिंसा की जड़ें मनुष्य के भीतर नहीं, उन परिस्थितियों में छिपी हैं, जिनमें मनुष्य रहता है। इसलिए हैरानी की बात नहीं है कि दुनिया के सबसे संपन्न मुल्कों में सबसे अधिक हिंसा है सर्वव्यापी हिंसा! और इसके बाद भी, हमारे भीतर भी कहीं यह कमजोरी छिपी हुई है कि हम भी अमेरिका-यूरोप बन जाते अमेरिका की खराब कार्बन कॉपी ही सही! यह दौड़ हमें हिंसा-प्रतिहिंसा-आत्महिंसा की तरफ घसीटे जा रही है। किसानों की आत्महत्याओं को अभी हम गिन भी नहीं पाए हैं कि युवाओं-विद्यार्थियों की आत्महत्याओं से समाज थर्रा उठा है। बुनकरों, छोटे व्यावसायियों आदि की आत्महत्या की खबरें भी आ रही हैं। निराश-निरुपाय लोग प्रतिहिंसा व हत्याओं की अंधेरी गली में उतर आए हैं।

आतंकवादी-नक्सलवादी-माओवादी आदि कहकर हम उनसे मुंह फेरने की कोशिश कर रहे हैं और वे हमें मुंह चिढ़ा रहे हैं। इसलिए जय जगत का मंत्र लेकर चलने वाले सर्वोदय-समाज के सामने आज सच में तमाम विश्व का आम आदमी आ खड़ा हुआ है लहूलुहान, क्षत-विक्षत, आत्महारा! अब देश ही नहीं, दुनिया को बचाने-बनाने की चुनौती सामने है। गांधी का 'हिंद-स्वराज्य' आज सारी मानवता की मुक्ति का दस्तावेज बन गया है।

और ऐसे में हमें इस बात का गहरा अहसास होना चाहिए कि गांधी के बाद की पीढ़ी हमसे विदा हो चुकी है। विनोबा के बाद की पीढ़ी अस्ताचल की ओर है, जयप्रकाश के बाद की पीढ़ी भी ढलान पर कदम रख चुकी है, अब हमारे सामने एक सर्वथा नई पीढ़ी खड़ी है आशा, उत्साह और सपनों से भरी। हमें इस नई पीढ़ी के लिए गांधी की दुनिया के दरवाजे खोलने हैं। इसलिए हमें भी अपना पुराना रूप बदलना होगा, नई भाषा, नए मुहावरे, नए तेवर में सामने आना होगा। बदलाव दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी अपरिहार्य हो चुका है। अपरिहार्य इसलिए कि इस नई पीढ़ी को साथ लिए बिना न अहिंसा संभव है, न हिंसा-प्रतिहिंसा का दुष्चक्र रोकना संभव है, न किसी नए मन का सर्जन संभव है। मतलब कि गांधी ही संभव नहीं है।

सर्वोदय समाज इस जरूरत को समझता भी है और इस चुनौती को स्वीकार भी करता है। वह इस सच्चाई को गहराई से महसूस करता है कि हिंसा-प्रतिहिंसा की अनगिनत लकीरों से क्षत-विक्षत भारत मां के सीने पर अब और जख्मों के लिए जगह ही नहीं बची है। यह खेल अभी और यहीं बंद करना होगा, और इसके लिए जरूरी है कि गांधीजन लोगों के बीच उतरें। गांव-मुहल्ले, नगर-महानगर सब ओर गांधी के लोगों की जरूरत है ताकि हिंसा प्रतिहिंसा की क्षुद्र लकीरों के सामने अहिंसा की एक बड़ी अमिट लकीर खींची जा सके।

सर्वोदय समाज आज विनोबा की उस उत्कटता को महसूस करता है कि इस विचार को आग की तरह सारे समाज में फैलाना है और यह व्यक्तिगत आचरण से ही संभव है। व्यक्तिगत आचरण और सामाजिक आचरण के बीच की खाई को पाटे बिना सर्वोदय सिद्ध नहीं होगा। सर्वोदय समाज फिर से इसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराता है और गांधी-विनोबा-जयप्रकाश की त्रयी को साथ लेकर आगे की यात्रा का संकल्प लेता है।

सर्वोदय समाज के
43वें सम्मेलन में पारित निवेदन।

*

ज्यादा पिलाओ!

उत्तर प्रदेश में शराब नीति के निहितार्थ उच्च न्यायालय की लखनऊ खंडपीठ ने शराब पर सरकारी नति को लेकर दो महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। पीठ ने पूछा है कि क्या गांधीजी के देश में सरकार के पास लोगों को शराब पीने के

लिए मजबूर करने का अधिकार है? दूसरे यह भी कि क्या भारतीय संविधान में नीति निर्देशक तत्व व मूल भूत अधिकार इस बात की अनुमति देते हैं कि सरकार लोगों को अधिक शराब पीने के लिए विवश करे?

पीठ ने इन दोनों प्रश्नों पर सरकार से पक्ष रखने को कहा है। यह आदेश न्यायमूर्ति देवीप्रसाद सिंह व न्यामूर्ति देवेन्द्र कुमार अरोरा की खंडपीठ ने याची श्री ओम प्रकाश की ओर से प्रस्तुत एक याचिका की सुनवाई के समय दिए हैं।

आबकारी अधिनियम के अंतर्गत ठेकेदारों पर यह बाध्यता है कि वे नियत मात्रा में शराब अवश्य खरीदें। कम मात्रा में शराब लेने पर सरकार उन पर टैक्स लगाएगी। याचिका में कहा गया है कि याची निर्धारित मात्रा में शराब नहीं खरीद पाया इसलिए सरकार ने उस पर अतिरिक्त कर लगा दिया। याची ने इसे चुनौती दी है।

पीठ ने कहा कि यह नियम उचित है अथवा नहीं, इस पर अगली तारीख को सुनवाई होगी। पीठ ने कहा है कि सरकार क्या कोई ऐसा कानून बना सकती है, जिससे सीधे या परोक्ष रूप से ठेकेदार को स्वास्थ्य के लिए हानिकारक शराब विक्रय हेतु विवश किया जा सके।

हमारी सरकारें नित्य ऐसे उपाय करने में व्यस्त हैं कि राजस्व बढ़ाने के लिए शराब बिक्री उच्चतम स्तर तक पहुंच सके। आखिर राजस्व और जनहित का परस्पर क्या संबंध हो सकता है? समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के लिए सरकारी शराब नीति उत्तरदायी है। आज देश में चारों ओर हिंसा का तांडव हो रहा है। उसके लिए भी यह शराब नीति जिम्मेदार है। हजारों परिवार शराब के नशे में स्वाहा हो रहे हैं। आत्महत्याएं हो रही है, हत्याएं हो रही हैं इसके पीछे शराब का हाथ है और ताकत है शराब नीति की। सरकारें शराब के पैसे से राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना चाहती हैं यह विचारों का दिवालियापन है।

राजनेता गांधी के विपरीत हर चाल को नया प्रयोग बताते हैं। करोड़ों लोगों को शराब में डुबो कर देश की नैया पार लगाने का ठेका जो राजनेता चला रहे हैं, वह गांधी के स्वप्नों को लहूलुहान कर चुका है। नेताओं और अधिकारियों की मिली भगत उन स्वार्थों की ओर संकेत कर रही है जो शराब नहीं, देश को बेचने की तैयारी में है। जनता को स्वयं निर्णय लेना पड़ेगा कि उसका हित किसमें है।

राघवेन्द्र शुक्ल

*

संकट बढ़ाता सोयाबीन

सोयाबीन को आज से कोई 3 हजार वर्ष पहले पूर्वी चीन के किसानों ने विकसित किया था। सन् 1765 ई. में उत्तरी अमेरिका में पहली बार सोयाबीन फसल लगाई गई थी। अमेरिका में आज गेहूं से ज्यादा भूमि पर सोयाबीन लगाया जाता है। ब्राजील

में भी इसका इलाका बढ़ता जा रहा है। अब तो यह अमेजान के वर्षा वनों में भी घुसपैठ कर चुका है। (भारत में यह विशेषतः मध्यप्रदेश में बड़े पैमाने पर बोया जा रहा है। इसलिए अमेरिका के संदर्भ में हो रही चर्चा हमारे देश पर भी लागू होती है।) दो शताब्दियों के भीतर ही सोयाबीन का अमेरिका की प्रमुख फसल बन जाना अपने आप में एक आश्चर्य है। 1950 के दशक में जब यूरोप और जापान युद्ध से उबर रहे थे तभी अमेरिका की अर्थव्यवस्था के गतिमान होने से मांस, दूध और अंडे की मांग में तेजी आई। चारागाहों के लिए अतिरिक्त भूमि उपलब्ध न होने की वजह से मांस के लिए गायों को भी दाना खिलाना था। साथ ही सुअर, मुर्गी को भी चारे के बजाय अनाज खिलाना प्रारंभ कर दिया गया। 1950 में वहां मांसाहार की खपत 4.4 करोड़ टन थी। वह 2009 में बढ़कर 28 करोड़ टन यानि 6 गुनी हो गई है।

जानवरों की सानी में, भोजन में 20 प्रतिशत सोयाबीन के मिश्रण से उसकी पौष्टिकता में काफी वृद्धि होती है। बीसवीं शताब्दी के मध्य से इसका बाजार भी परवान चढ़ गया। इसकी वजह से सोयाबीन को कृषि में प्रधानता मिल गई और यह मक्का, धान की तर्ज पर विश्व की प्रमुख फसल बन गई। इसी बीच अमेरिका में इसका उत्पादन बढ़ता गया और 1960 में यह बढ़कर चीन से तीन गुना हो गया। 1970 के दशक में अमेरिका दुनिया का तीन चौथाई सोयाबीन पैदा करने लगा था और उसने इसके निर्यात को तो लगभग पूरा ही हथिया लिया था। इसी क्रम में अमेरिका में 1995 तक सोयाबीन ने गेहूं के अधिकांश इलाकों को अपने में समा लिया था।

1970 के मध्य में अमेरिका ने खाद्यान्न की घरेलू कीमतों को काबू में रखने के लिए इसके निर्यात पर रोक लगा दी थी। जापान इसका प्रमुख आयातक रहा है। पर अमेरिका से सोयाबीन न मिलने पर उसे कोई अन्य आपूर्तिकर्ता की खोज में जुटना पड़ा। ब्राजील ऐसी नई फसल की खोज में था, जिसे वह निर्यात कर सके। ब्राजील में 2009 में सोयाबीन का इलाका शेष सभी फसलों के सम्मिलित क्षेत्र से अधिक हो गया। इस बीच सोयाबीन ने अर्जेंटीना में भी अपने पैर मजबूत किए। आज अमेरिका, अर्जेंटीना और ब्राजील मिलकर दुनिया का 80 प्रतिशत से अधिक सोयाबीन पैदा करते हैं और निर्यात में उनका हिस्सा नब्बे प्रतिशत है।

पिछली शताब्दी के अंत तक जापान 50 लाख टन सोयाबीन आयात करता था। सन् 1995 तक चीन सोयाबीन के मामले में आत्मनिर्भर था। वह प्रतिवर्ष 1.3 करोड़ टन सोयाबीन उपजाता था। पिछले दशकों में आय बढ़ने के साथ ही साथ चीन में सोयाबीन की मांग बढ़ी। 2009 में चीन में सोयाबीन की खपत 5.5 करोड़ टन थी और उसे इसका 75 प्रतिशत आयात करना पड़ा था। आज

दुनिया भर का आधा सोयाबीन उसी चीन को निर्यात होता है, जिसने दुनिया को सोयाबीन दिया है। चीन में जानवरों के चारे में सोयाबीन मिलाया जाता है और यहां आज मांस की खपत अमेरिका से दुगुनी है।

1950 में विश्वभर में बस 1.7 करोड़ टन सोयाबीन पैदा होता था। अब यह बढ़कर 25 करोड़ टन यानी कि करीब 14 गुना हो गया है। इस उत्पादन का 10 प्रतिशत उपयोग टोफू, मांसाहार के विकल्प, सोयासॉस व अन्य चीजों में होता है। 20 प्रतिशत का तेल निकाल लिया जाता है। बचे हुए 70 प्रतिशत सोयाबीन का इस्तेमाल जानवरों और मुर्गियों के खाने के लिए होता है।

सोयाबीन की वैश्विक मांग में प्रतिवर्ष 60 लाख टन की वृद्धि की पूर्ति भी एक चुनौती है। सोयाबीन एक तरह की फली है। यह वातावरण से नाईट्रोजन को खींचकर मिट्टी में मिलाती है। परंतु अपनी इस प्रवृत्ति की वजह से सोयाबीन में अपने बीजों को बढ़ाने की शक्ति नहीं होती। इसीलिए इसका उत्पादन यथोचित नहीं बढ़ पा रहा है। 1950 से अब तक मक्का की उत्पादकता में प्रति हेक्टेयर चार गुना की वृद्धि हो चुकी है। लेकिन सोयाबीन में मात्र दुगनी वृद्धि हो पाई है। इसलिए किसान इसका उत्पादन बढ़ाने अब अधिक क्षेत्र में इसकी बुआई करते हैं।

इसी वजह से ब्राजील के वर्षा वनों को भी नष्ट किया जा रहा है। पहले जानवरों को रखने के लिए इन जंगलों को काटा गया था और अब इन्हें खिलाने के लिए फसल पैदा करने हेतु अनमोल वर्षा वनों को नष्ट किया जा रहा है। वनों को सिर्फ ब्राजील में ही नष्ट नहीं किया जा रहा है। परंतु दुनिया भर में मांस, अंडों और दूध की बढ़ती मांग के कारण अन्य स्थानों पर भी यह संकट आ सकता है। इस सबसे बचना हो तो आज हमें अपने-अपने देशों में मांस की खपत में कमी के उपाय खोजने ही पड़ेंगे।

हमें अपने भोजन में भी ऊर्जा की तरह ही एक संतुलन बनाना होगा तथा मांस और सोयाबीन जैसी फसलों की मांग में कमी करना होगा। हम आपूर्ति को एक हद से अधिक नहीं बढ़ा सकते।

लेस्टर आर ब्राउन

*

खेती का ज्ञान और विज्ञान

हमारे देश में आधुनिक मानी गई कृषि शिक्षा का इतिहास कोई खास पुराना नहीं है। आजादी के पहले साईदासपेठ (तमिलनाडु), पूणे कृषि महाविद्यालय, लखैटी, नैनी संस्थान (उत्तर प्रदेश) और महाराजबाग (नागपुर) जैसे स्थानों पर कृषि महाविद्यालय स्थापित हुए थे। फिर आजादी के बाद तो हरेक राज्य में कृषि विश्वविद्यालय और कृषि महाविद्यालय खुलते चले गए। और इनमें से हजारों की तादाद में प्रतिवर्ष कृषि स्नातक या स्नातकोत्तर पदवी लेने वाले कृषि वैज्ञानिक निकलने लगे। यदि

पिछले साठ सालों की गिनती करें तो देश में कम से कम एक लाख से ज्यादा कृषि वैज्ञानिक तो निश्चित ही होंगे। इसके बावजूद यदि किसानों की आत्महत्याएं रुक न पा रही हों, 40 प्रतिशत से ज्यादा किसान खेती छोड़ने का मन बना चुके हों और गांवों से शहरों की ओर पलायन बढ़ रहा हो तो हमारे इन कृषि वैज्ञानिकों की काबिलियत पर शक होने लगता है। ऐसे में सवाल उठाता है कि आखिर हम कृषि वैज्ञानिक किसे कहें?

सदियों से हमारे यहां खेती को कभी पढ़ने-पढ़ाने का विषय माना ही नहीं गया था। परंपराओं से, व्यक्तिगत निरीक्षण और प्रयोगों से खेती विकसित होती गई। आजादी के बाद खोले गए कृषि महाविद्यालयों का पाठ्यक्रम पूरी तरह पश्चिम की खेती के अनुकूल था। अंग्रेजों ने हम पर खाद्यान्नों की जगह नगदी फसलों की खेती थोप दी थी।

जिन सीमांत कृषकों को दो जून रोटी नसीब नहीं होती थी, उन्हें लाभ कमाने वाली खेती सिखाई गई। आजादी के बाद खाद्यान्नों की जगह सोयाबीन और गेहूं का रकबा बढ़ा। जलवायु, मौसम और मिट्टी के अनुसार अलग-अलग प्रांतों में जहां विविध फसलें बोई जाती थीं, वहां सोयाबीन और रबी में गेहूं अनिवार्य किए गए। हमारे किसी भी कृषि वैज्ञानिक ने जैव विविधता पर हो रहे प्रहार का विरोध करने के बजाए गर्दन नीची करके शासन और प्रशासन के सुर में सुर मिलाया। विपुल उत्पादन देने वाली संकर किस्मों के बाद आज जब जीन रूपांतरित फसलों का प्रचलन बढ़ा तो इस विषय में भी इन तथाकथित कृषि वैज्ञानिकों ने शासन को फटकारा नहीं कि हमें इस विदेशी तकनीकी ज्ञान की जरूरत ही नहीं है। हमारी मिट्टी इतनी सक्षम है कि हम अपनी ही प्रजातियों से मनचाही उपज ले सकते हैं। साथ ही हमारे यहां फसलों की इतनी विविधता है कि हम विषम जलवायु में भी सबका पेट भर सकते हैं।

हमें उन मुट्ठी भर प्रगतिशील किसानों और समाजसेवी संस्थाओं की दाद देनी होगी, जिन्होंने जगह-जगह कड़ा विरोध कर जीन रूपांतरित फसलों के इस बवंडर को रोका और जी.एम. फसलों के खिलाफ जन जागृति फैलाई है।

क्या इन प्रगतिशील किसानों का ज्ञान किसी भी स्थापित कृषि वैज्ञानिकों से कम है? अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जिनकी प्रतिभा को सराहा गया है, उन चार कृषि वैज्ञानिकों में जॉर्ज वाशिंगटन कार्व्हर, अलबर्ट हॉवर्ड, मासानोबू फुकुओका और भारत में कोल्हापुर के श्रीपाद अच्युत दाभोलकर बहुत आदर के साथ गिने जाते हैं। इनमें दाभोलकर तो गणितज्ञ थे। उन्हें किसी भी कृषि विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं मिली थी। लेकिन इसके बावजूद वैज्ञानिक खेती पर उनकी पकड़ इतनी मजबूत थी कि पूरे विश्व को कृषि अनुसंधान और शिक्षा पर अनुदान देने वाले विश्व खाद्य एवं कृषि संगठन के प्रमुख भी दाभोलकर

का सम्मान करते हुए कहते थे कि आप हमसे 25 वर्ष आगे हैं।

दाभोलकर को बचपन से ही खेती के प्रयोग करने का शौक था। वे मटके में कद्दू लगाते। बागड़ पर उग रही नागफणी बकरी को खिलाते। दूध की खाली थैली में झूठन भरकर उसे सड़ाकर उससे खाद बनाते। उसमें मूंगफली पैदा करते। फोटो मीटर से सौर ऊर्जा 'नापकर' केले के पत्तों को या अंगूर के पत्तों को ज्यादा से ज्यादा सूर्य प्रकाश देकर ज्यादा उपज लेने जैसे प्रयोग करते थे। ऐसे ही एक प्रयोग से उन्होंने अपनी छत पर गमले में लगी अंगूर की बेल से 100 घड़े अंगूर पैदा किए थे। आसपास के किसान उनके ये प्रयोग देखने आते थे। उनके काम से प्रभावित होकर वहां के कलेक्टर ने सांगली जिले के तासगांव के किसानों को प्रशिक्षण देने हेतु उन्हें वहां भेजने का सोचा। लेकिन सलाहकारों ने उनसे कहा कि दाभोलकर तो गणितज्ञ हैं। कल विधान सभा में किसी बने प्रश्न पूछा तो? कलेक्टर ने सोचा कि मैं भी कृषि स्नातक नहीं हूं, इसलिए लोग ये प्रश्न उठा रहे हैं। क्यों न मेरा ही प्रशिक्षण शिविर रात को लगाया जाए। और इस तरह सन् 1967 में महाराष्ट्र में अंगूर क्रांति की शुरूआत हुई।

जिन लोगों को दाभोलकर का सान्निध्य प्राप्त हुआ था, वे जानते हैं कि दाभोलकर पेड़ों से बात करते थे। उनके अद्भुत कृषि ज्ञान के कारण उन्हें महाराष्ट्र अंगूर बागवान संघ ने 'द्राक्ष माऊली' अंगूर की मां नाम से सम्मानित किया था। उन्हें बर्लिन में एक माह के लिए प्रशिक्षण देने बुलाया था। दाभोलकर कहते थे कि वैज्ञानिक वह होता है, जो स्वप्रेरित कल्पना को प्रयोग द्वारा सिद्ध करके बताता है।

दाभोलकर जी के ही शिष्य दीपक सचदे, वलसाड के भास्कर सावे, गोवा के क्लॉड अल्वारिस, तासगांव के जयंत बर्वे, गन्ना विशेषज्ञ सुरेश देसाई और यवतमाल के सुभाष शर्मा में से कोई भी कृषि स्नातक नहीं है, लेकिन ये सभी कम से कम पानी में खेतों में उपलब्ध चीजों से और खेतों में काम कर रहे लोगों को अधिक से अधिक लाभ पहुंचा कर खेती को निरंतर फायदेमंद बनाने के प्रयास में लगे हैं।

ये कृषि स्नातक नहीं हैं पर कृषि वैज्ञानिक बराबर हैं। कृषि प्रधान देश में कृषि वैज्ञानिकों की गिनती भला हम क्यों करेंगे। इनकी छीनी गई प्रतिष्ठान इन्हें वापस मिले तो अच्छे, उपयोगी वैज्ञानिकों की एक नई फसल उग आएगी।

अरुण डिके

*

पत्र

गांधी-मार्ग पढ़ता हूं। ध्यान से। लेखों के अलावा जो पत्र छपते हैं, उनको भी। इन सबसे प्रेरणा मिलती है।

नक्सलवादियों का नामोनिशान मिटा देंगे ऐसा गृहमंत्री ने कहा है। मुझे तो बाराबर लग रहा है कि क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कुछ गांधीवादी साथी बाकायदा गृहमंत्री को खबर कर नक्सलवादियों से मिलें और उनकी बातें सुनें। मैंने गृहमंत्रीजी को भी एक ऐसा पत्र लिखा है। वहां से जवाब की आशा नहीं है।

डी.के.ओझा,
1, फर्स्ट क्रास स्ट्रीट,
इंदिरा नगर, अड़यार, चेन्नई-600020

*

गांधी-मार्ग का जनवरी-फरवरी का अंक। पत्रिका का उत्कृष्ट स्तर प्रत्येक अंक के साथ सतत् रूप से कायम है। बाजारवाद के इस भयावह दौर और अनगिनत पत्र-पत्रिकाओं के बीच 'गांधी-मार्ग' अपने ही किस्म की सात्विक पत्रिका है। पाठक के अंतःकरण का परिशोधन और परिमार्जन करती हुई! चारित्रिक उदात्तीकरण का पथ प्रशस्त करने वाली! इसीलिए यह पत्रिका न केवल मन को, बल्कि दिल को भाती है।

इस पत्रिका में छपे लेख एक तरफ तो हमें विभिन्न विषयों की रोचक जानकारी मुहैय्या कराते हैं तो वहीं दूसरी तरफ इन लेखों को पढ़कर हम पर्यावरण, स्वास्थ्य, सदाचार जैसे सरोकारों से अनायास ही जुड़ जाते हैं।

लेख 'संस्थाएं नारायण-परायण बनें' में तपोनिष्ठ विनोबाजी की संतवाणी दिल को झंकृत कर गई। साधन और साध्य दोनों की ही पवित्रता के सिद्धांत के पोषक गांधीजी के समान ही विनोबा ने भी इसमें अपनी अटूट आस्था बनाए रखी तथा जीवन में सत्य को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। वे पूरे विश्वास के साथ लिखते हैं, "सत्यनिष्ठा विहीन बहुत बड़ी संख्या किसी समाज में शामिल हुई तो विश्व कल्याण की दृष्टि से उसका तनिक भी उपयोग नहीं होगा"

विभाजन रोकने का अंतिम प्रयास में श्री विश्वनाथ टंडन जी ने भारत-पाक विभाजन की अपरिहार्य, अनिवार्य और बाध्यकारी परिस्थितियों को सामने किया है। मेरा मंतव्य तनिक भिन्न है। देश विभाजन के लिए कुछेक व्यक्ति विशेषज्ञों को जिम्मेदार ठहराना किचिंत भूल होगी। विभाजन तो लोगों के दिलों में हो चुका था। इसका कारण हिन्दू व मुसलमानों द्वारा परस्पर धर्म का सम्यक मर्म न

समझ पाना है। धर्म के तत्वार्थों को आत्मसात न करके मात्र उनके छिलकों पर उलझे लोगों के दिलों में समरसता आज भी कायम नहीं है, उस समय भी नहीं थी।

कुमार प्रशांतजी ने श्रद्धेय स्वर्गीय प्रभाष जोशी जी की आदर्शोन्मुखी और सिद्धान्तवादी पत्रकारिता को उजागर किया है। प्रशांतजी ने उचित ही कहा है कि वे जो छोड़ गए हैं, वह पत्रकारिता के मंच पर कदम रखने वाले किसी ईमानदार पत्रकार के लिए पाठशाला बन सकता है और इसका पेशा करने वालों के लिए चुनौती भी। प्रभाषजी के लेख 'हौज में एक लोटा दूध' ने अखबार जगत के यथार्थ दर्शन कराके आंखें खोली हैं। उनका आशावाद सचमुच, स्तुत्य है। प्रभाषजी जैसा परम आशावादी और सिद्धांतवादी पत्रकार ही पतन के इस दौर में यह आह्वान कर सकता है कि "हमको सामाजिक सरोकार और मूल्यों वाली पत्रकारिता से कभी विश्वास नहीं छोड़ना चाहिए।" और यह भी कि,"...मेरे एक लोटा दूध डालने से सारा पानी दूध नहीं हो जाएगा, लेकिन मैं उस पानी का रंग दूधिया जरूर कर दूंगा।"

श्री चतर सिंह जाम के 'अलगाव में लगाव' ने जमालखां और जगमाल खां की पारिवारिक एकता का लाभ रेखांकित करके संयुक्त परिवारों का महत्व सहज ही समझा दिया है। वर्तमान परिवेश में एकल परिवार एक तरफ तो एकांगी, नीरस और बोझिल जीवन जीने को विवश है, तो वहीं दूसरी ओर ऐसा जीवन जीने से जीविकोपार्जन, उत्पादन और कृषि इत्यादि प्राकृतिक संसाधनों के सम्यक दोहन का कार्य भी भली प्रकार से संपन्न नहीं हो पा रहा है। आजकल हमारे गांवों में भाईयों में परस्पर बंटवारे हो जाते हैं जिसके कारण अब किसानों के पास जोत का आकार बहुत सीमित रह गया है। चंद बीघे जमीन का काश्तकार यदि अपने भाईयों के साथ मिलकर खेती करे, तो जो जमीन मेड़बंदी, नाली-निर्माण आदि में आरक्षित एवं निष्प्रयोजन हो जाती है, उसका भी सम्यक उपयोग हो सकता है। साथ ही, पानी की कमी या अधिकता के समय उसका उचित निकास, सामूहिक श्रम-शक्ति, बीज, खाद-उर्वरक पानी आदि का एकमुश्त क्रय-विक्रय, उत्पाद का एकमुश्त विपणन आदि अनेकानेक पहलू हैं, जो परमहितकारी सिद्ध हो सकते हैं। इन आर्थिक फायदों के अतिरिक्त सामूहिक परिवारों में जीने से भावनात्मक, चारित्रिक और आत्मिक सुधार भी आता है। सहिष्णुता, संयम, धैर्य, परदुख, पीड़ा, सदाचार, संवेदनशीलता, अनुशासन आदि बातें संयुक्त परिवार में रहकर स्वतः आ जाती हैं क्योंकि इनकी नींव पर ही संयुक्त परिवार टिका होता है।

'पहली किलकारी' में प्रशांत दुबे ने दाई समाज की कथा-व्यथा सामने रखते हुए उचित ही कहा है कि सरकारें हर उस तंत्र को खत्म कर रही हैं, जो

कि समाज की कोख से उपजे हैं। सरकारों की ऐसी ही नासमझी 'बीटी बैंगन' के रूप में हानिकारक एवं अस्वास्थ्यकारी अखाद्य को खाद्य के रूप में परिणत कर बाजार में लाने की हरकत से सिद्ध होती है। नीला हार्डिकर का आलेख इस घातक कृत्य को बखूबी उजागर करता है। अरविंद कालाजी ने परमाणु ऊर्जा के खतरनाक पहलूओं से बुद्धिमत्तापूर्वक आगाह किया है।

'एक फिरंगी राजा' में रोमेश बेदीजी ने 'विलसन' के रूप में एक धनलोलुप व प्रकृति हंता मनोदशा का इतिहास सुनाया है। लेकिन अफसोस! विलसन की कहानी उसके साथ ही समाप्त नहीं हो जाती है। उसका मसूरी स्थित होटल आगे चलता है, जिसमें अब भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण संस्थान है। यह आज भी विलसन जैसी लोलुप, पदलोलुप, बेइमान भ्रष्ट और विकृत मनोदशा के अनेकानेक अधिकारीगण का निर्गमन करता है। अधिकारियों में दिनों दिन बढ़ते भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति को देखकर तो यही लगता है कि 'विलसन' अभी मरा नहीं है, बल्कि अनेकानेक रूपों में अवतरित हो रहा है।

टिप्पणी में विश्वजीतजी का बयान 95 प्रतिशत आरोप सही हैं मर्म को छू गया। उनके जुझारू जीवट को मेरा हार्दिक साधुवाद!

पत्रों में सुरेन्द्र बांसल का पत्र मन को बेहद भाया। आज सभी लोग तथाकथित उन्नत खाद्यान्नों की अफरात में घर के चौके की खिड़की से आती भोजन की वास्तविक खुशबू के लिए तरस रहे हैं। आज वाकई देश का अधिकतर अनाज अपनी खुशबू खो चुका है। बांसलजी ने बढ़ते शहरीकरण के कारण तन्हा व बोझिल जिन्दगी और नंदीग्राम, सिंगूर आदि भूमि अधिग्रहण के मसलों का जिक्र करके हमें भयावह वर्तमान को दर्शन कराए हैं।

सशक्त और प्रभावशाली लेखन के लिए उक्त सभी लेखक तो बधाई के पात्र हैं ही, साथ ही श्रेष्ठ संपादन व सामग्री चयन के लिए हार्दिक साधुवाद! पत्रिका की तरक्की और अहिंसा की इस संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार की कामनाओं के साथ।

मुकेश कुमार 'निर्विकार'
म.नं. 2/29, डी.एम. कॉलोनी,
बुलंदशहर-203001 (उत्तर प्रदेश)

*

जनवरी-फरवरी का अंक मिला। कई लेखों को कई बार पढ़ने पर भी ऐसा लगा कि फिर पढ़ा जाए। यही तो गांधी-मार्ग की मौलिकता है। इस भौतिकतावादी युग में मैं की जगह हम की अलख जगाने वाली पत्रिका हमें अपनी गलतियों का अहसास दिलाकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। इच्छा तो सभी लेखों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने की है, लेकिन यह व्यावहारिक नहीं होगा। इसीलिए एक चर्चित विषय बीटी बैंगन पर प्रकाशित नीला हार्डिकर के 'बैंगन बनेगा बेगुन' पर कुछ विचार प्रकट कर रहा हूं।

बीटी बैंगन के व्यावसायिक उत्पादन की अनुमति के सिलसिले में खेती में नई तकनीक के प्रयोग को लेकर जो बहस छिड़ी उसमें बीज बाजार पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते आधिपत्य पर बहुत कम चर्चा हुई है। खाद्य सुरक्षा का आधार खेती है और खेती का आधार है बीज। बहुराष्ट्रीय कंपनियां भले ही दुनिया से भुखमरी मिटाने के लिए नई तकनीक के प्रसार का दावा कर रही हैं लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से वे खेती की नींव यानी बीज पर कब्जा जमाने की मुहिम में जुटी हुई हैं। पेटेंट और बौद्धिक संपदा जैसे नए अधिकार कानून इसके लिए सीढ़ी का काम कर रहे हैं। उदाहरण के लिए चोटी की 10 कृषि जैव प्रौद्योगिकी कंपनियां वैश्विक बीज बाजार के 67 प्रतिशत हिस्से पर कब्जा जमा चुकी हैं। ये सभी कंपनियां विकसित देशों की हैं। बौद्धिक संपदा अधिकार के जरिए हाइब्रिड प्रजाति के बीज तैयार करने के लिए जो शोध किया जा रहा है, वह विकसित देशों के धनी किसानों की जरूरतों पर आधारित हैं उष्ण कटिबंधीय फसलें इस शोधकार्य में पूरी तरह उपेक्षित हैं, जबकि इन्हीं फसलों से करोड़ों लघु व सीमांत किसानों की आजीविका जुड़ी हुई है। इन देशों के किसानों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के महंगे बीज खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। दूसरे, इससे विविध फसलों के स्थान पर कुछेक चुनिंदा फसलों की खेती को बढ़ावा मिल रहा है, जिनकी अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भरपूर मांग है। इस प्रक्रिया में पेट के लिए नहीं अपितु पेटी, तिजोरी, बाजार के लिए खेती को बढ़ावा मिला है। इससे गरीबों की खाद्य सुरक्षा नष्ट हुई और उन्हें बाजार के सहारे छोड़ दिया गया है। बीज क्षेत्र में जो शोध हो रहा है, उनमें विकासशील देश बहुराष्ट्रीय बायोटेक बीज कंपनियों के इशारे पर नाचने लगे हैं। उदाहरण के लिए भारत के कृषि विश्वविद्यालय देसी बीजों के बजाए मोनसेंटो जैसी कंपनियों द्वारा चिन्हित फसलों पर शोध कर रहे हैं। यह स्थिति तब है जब भारत में दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र का कृषि शोध तंत्र मौजूद है। स्पष्ट है बीज बाजार पर आधिपत्य जमाने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियां साम-दाम-दंड-भेद सभी हथकंडे अपना रही हैं।

वैश्विक बीज बाजार पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते आधिपत्य से जैव विविधता खतरे में पड़ गई है क्योंकि सभी देशों पर एक जैसे उन्नत बीज अपनाने का दबाव बढ़ता जा रहा है। ये बीज भले ही शुरू के दौर में अधिक उत्पादन देते हैं लेकिन फिर (बाढ़, सूखा, अधिक तापमान) के आगे ये जल्दी ही हार हो जाते हैं। इसके विपरीत देसी बीज वहां के अनुरूप ढले होते हैं, जिससे वे इन सब बातों को झेल लेते हैं। फिर इन्हें खरीदने के लिए किसानों को मोटी रकम भी नहीं चुकानी पड़ती। हमारे देश में सूखा व बाढ़ को सहने वाली अनेक जातियां प्रचलित रही हैं।

लेकिन बीज एकाधिकार की बढ़ती प्रवृत्ति ने सभी को भुला दिया। बीजों के सहेजने की प्रथा नष्ट होने के कारण हमारी कृषि विविधता खतरे में पड़ गई है। उदाहरण के लिए 1959 में श्रीलंका में 2000 से अधिक किस्मों के धान उगाए जाते थे। लेकिन 1992 तक आते-आते धान की 100 से भी कम किस्में रह गईं। इसी प्रकार बांग्लादेश व इंडोनेशिया में धान की क्रमशः 62 व 74 प्रतिशत किस्में सदा के लिए लुप्त हो गई हैं।

जीएम बीजों का भुखमरी मिटाने का तर्क भी बहुत ठोस नहीं है। उदाहरण के लिए आज दुनिया में जो अनाज पैदा हो रहा है, वह 11.5 अरब लोगों के लिए पर्याप्त है। धरती पर तो 6.5 अरब लोग ही रहते हैं। भारतीय संदर्भ में देखें तो सरकारी भण्डारघर अनाज से भरे हैं और दूसरी ओर भुखमरी से ग्रस्त दुनिया की सबसे बड़ी आबादी का घर हम बने हुए हैं। ऐसे में इस बात की क्या गारंटी है कि अधिक उत्पादन देने का दावा करने वाली जीएम फसलों के आने से गरीबों के मुंह में निवाला पहुंच ही जाएगा? फिर जीएम फसलों की उत्पादकता और रोग प्रतिरोधक क्षमता भी कटघरे में आ चुकी है। अब तक के अनुभवों से यही प्रमाणित होता है कि अन्य परिस्थितियों के अनुकूल रहने पर जीएम बीज शुरू में अच्छी पैदावार देते हैं, लेकिन फिर धीरे-धीरे उत्पादकता में कमी आने लगती है। तीन-चार वर्षों में ही खेत में ऐसे कीट पैदा हो जाते हैं, जिनकी प्रतिरोधकता क्षमता अधिक होती है। पिछले कुछ वर्षों से कई अन्य कीटों ने कपास की फसल को नुकसान पहुंचाना शुरू कर दिया था। अब बीटी कपास भी इसकी चपेट में आ गई है। केंद्रीय कपास प्रोद्योगिकी अनुसंधान संस्थान माटुंगा (मुंबई) की रिपोर्ट के अनुसार 2008-09 में बीटी कपास के 12 प्रतिशत फूल बालवर्म चट कर गए थे। चार साल पहले मात्र तीन प्रतिशत कपास में ही बालवर्म लगते थे। विशेषज्ञों के अनुसार बालवर्म इसी रफ्तार से बढ़े तो बीटी कपास की 20-30 प्रतिशत फसल बर्बाद हो जाएगी। मार्च के दूसरे सप्ताह में मोनसेंटो की भारतीय सहयोगी कंपनी महिको ने स्वयं स्वीकार किया है कि गुजरात के चार जिलों में बीटी कपास में पिंक बालवर्म बीमारी पाई गई है। यह किस्म इस बीमारी से लड़ने में नाकाम रही। अब तो बीटी कपास की उत्पादकता भी ढलान पर है। 2007-08 में प्रति हेक्टेयर उत्पादकता 567 किग्रा थी। यह 2008-09 में 526 किग्रा तथा 2009-10 में तो बस 494 किग्रा ही रह गई है।

रमेश कुमार दुबे,
जेड-26/27, मोहन गार्डन, दिल्ली-59

*

इटानगर में गांधी-मार्ग का समय पर प्राप्त होना सुखद आश्चर्य है। शायद डाक-तार विभाग इस पत्रिका पर अधिक मेहरबान है। पत्रिका के लिए विषय वस्तु का चुनाव, उसकी

गंभीरता, भाषा की सरलता, सादगी भरी साज सज्जा, कुशल संपादन और मुद्रण इसे अन्य पत्रिकाओं से बिलकुल अलग कर देता है।

चयन-संपादन की पराकाष्ठा इसलिए भी कहना चाहूंगा कि जब भी पत्रिका मिलती है एक बार में ही पूरी पत्रिका पढ़ने की इच्छा होती है। परंतु ऐसा समयाभाव के कारण संभव नहीं होता, अतः सभी लेखों के मोटे अक्षरों में दिए गए सार एक बार में ही पढ़ लेता हूं। समय और रुचि के अनुसार फिर एक-एक लेख पढ़ता हूं।

पत्रिका काफी ज्ञानवर्धक और मेरे लिए प्रेरणादायक है। मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं कि अपनी कविताओं के लिए मुझे गांधी-मार्ग के लेखों से प्रेरणा मिलती है।

इच्छा तो यह है कि गांधी-मार्ग का प्रकाशन मासिक हो जाए!

ऐसी सुरुचिपूर्ण पत्रिका के प्रकाशन के लिए गांधी शांति प्रतिष्ठान को साधुवाद।

अशोक कुमार शरण,
खादी ग्रामोद्योग आयोग,
एच-सेक्टर, इटानगर अरुणाचल-790 003

*

गांधी-मार्ग का हर एक अंक संग्रहणीय होता है। जनवरी-फरवरी अंक स्व. प्रभाष जोशी की याद ताजा करता है। बैगन बेगुन खेती पर आ रहे संकट से सावधान कराता है। पोथी पढ़ि-पढ़ि एक फिरंगी राजा विलसन के कुटिल कारनामों को दिखाता है। दुख की बात यह है कि इस फिरंगी की लूट को हमारी आज की मान्य सरकारों ने आगे ही बढ़ाया है। संयोग से विलसन द्वारा विनाश किए गए कस्तूरी मृग को उत्तराखंड सरकार ने राज्य पशु और मोनाल पक्षी को राज्य पक्षी घोषित किया है। ये आज संकट में हैं। किंतु इन्हें बचाने की कोई योजना सरकार के पास नहीं है।

इस लेख में कुछ और भी जोरदार बातें रह गई हैंः विलसन को 'सोना सौथलो' नहीं सोना की पोथली कहा जाता था। और यह नाम लोगों ने नहीं अपितु यहां के राजा ने उसे तब दिया जब वह राजदरबार में आकर राजा को रुपयों की थैली देने लगा। राजा प्यार से कहता था विलसन मेरी सोना की पोथली (चिड़िया) है। लोग उसे पोथल्या साब कहते थे। मोनाल पक्षी का विलसन ने खूब शिकार किया। मोनाल उच्च हिमालय में पाया जाने वाला खूबसूरत पक्षी है। इसके पंख मोर की तरह चमकीले होते हैं। विलसन पहला व्यक्ति था जिसने यहां जंगलों को व्यापार की वस्तु बनाया। चिरान के लिए आरे की शुरुआत उसने ही शुरू की थी। उससे पहले लोग घर बनाने के लिए मात्र कुल्हाड़े से लकड़ी बनाते थे। विलसन ने भागीरथी घाटी में गंगोत्री-गौमुख तक प्रकृति की लूट के जो बीज बोए थे, उसी का परिणाम है कि आज गंगोत्री ग्लेशियर बुरी तरह से संकट में है। बताया जाता है कि विलसन को

राजा ने भले ही सम्मान दिया हो किंतु लोग उसकी ज्यादा इज्जत नहीं करते थे। अंग्रेज होने के नाते और शिकार खाने व पैसे के लालच में पोथल्या साब का डर कर आदर तो था ही।

यहां सेव और आलूबुखारा आदि फलों को लाने का श्रेय जरूर विलसन को जाता है किंतु राजमा, आलू और गेहूं आदि तो पहाड़ों में बहुत पहले आ गया था।

विजय जड़धारी, बीज बचाओ आंदोलन,
नागणी, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड।

*

आज मार्च माह समाप्त हो रहा है। पर मेरे हाथ तो पहली बार अभी गांधी-मार्ग का एक पुराना अंक सितंबर-अक्तूबर लगा है। इसमें विनोबा के लेख का शीर्षक उठा कर कहना चाहूंगा कि यह सच में यह थोड़ी-सी पूंजी से बड़ा व्यापार है। कुल में इस चेतना का संचार अगर हो पाए तो कम खोया, बहुत पाया वाली बात होगी।

देवी नागरानी,
9 डी, कार्नर व्यू सोसायटी, 16/33,
रोड, बांद्रा (पश्चिम) मुंबई-400 050

पत्रिका समय पर मिलती है। इस अनूठी पत्रिका में रखे जा रहे विषयों और प्रयासों से हम सब प्रभावित हैं। अलवर-नागौर के गांवों में काम करने वाले हम आठ-दस साथी मिलकर इसे पढ रहे हैं। हमारे जीवन में इस पत्रिका का एक-एक शब्द अनमोल है। हम इस पत्रिका से जो सीख रहे हैं, उसे समाज के साथ मिलकर अपने दैनिक जीवन में लागू करने का प्रयास भी कर रहे हैं।

मार्च-अप्रैल में श्री कुमार प्रशांत का लेख 'धरती की किस्मत का फैसला' कोपनहेगन की सारी पेंचीदा बनाई गई बातों को हम लोगों के लिए एकदम सरल ढंग से रख देता है। श्री रवीन्द्र पाठक का लेख सूखे में हरा, पानी किसने भरा अकाल के एक और पक्ष को सामने रखता है। यह है बुद्धि का अकाल। श्री योगेश अनेजा ने अपने लेख में सरकार की जिस सच्चाई को बताया है वह दिल छूने वाली बात है। आज की सरकारों के पास गांव के लोगों के हक को विकास के नाम पर छिनने के अलावा कुछ बचा नहीं है। हमारे गोचर, तालाब ही तो बचे थे अब उनको भी छिनने का काम शुरू हुआ है। लेकिन जिस दिन समाज जागेगा, वह उस दिन एक-एक चीज का हिसाब गिन-गिन कर वापस लेगा।

सतीश कुमार,
ई-139, गुप्ता स्टोर के पीछे,
वैशाली नगर, जयपुर-302021 (राजस्थान)

*